मांसभोजनविचार के तृतीय भाग का उत्तर ॥

अर्थात्

योधपुर के एक उपदेशक ने अथर्ववेद के प्रमाणों से मांसभक्षण करना सिद्ध किया था ॥

उस का

अच्छे २ प्रबल पुष्ट युक्ति प्रमाणों द्वारा भीमसेन शर्मा ने उत्तर दिया

और

बाबू पूर्णसिंह वर्मा के प्रबन्ध से

सरस्वतीयन्त्रालय-इटावा में छपा

संवत् १९५३ वि० । ता० १० । ३ । ९७

प्रथबार १००० पु०] [मूल्यप्रतिपु० =)।

मांसभोजनविचार तृतीयभाग का खण्डन ॥

इस पुस्तक की भूमिका पर कुछ लिखना विशेष आवश्यक नहीं क्योंकि ऐसी प्रबल युक्ति भी कोई नहीं दी गई जिस का उत्तर देना आवश्यक हो। इस में पहिला प्रकरण ईश्वरप्रार्थना है इस पर भी मुझे कुछ विशेष लिखना आवश्यक नहीं है तथापि इतना कहना आवश्यक है कि—अपने शत्रुओं को नष्ट करने की प्रार्थना से मांसोपदेशक जी का यह आशय झलकता है कि हमारे प्रत्यक्ष शत्रु फलाहारी लोग हैं उन का नाश हो सो यदि उन का यही अभिप्राय ठीक हो तो वास्तव में उन के भीतर बड़ा कलमष है और ऐसे पाप का प्रायश्चित्त भी मिलना दुस्तर है। हम को मांसोपदे० जी का यही अभिप्राय उन के लेख से प्रतीत होता है और यदि यह अभिप्राय हो कि जिन का मांस हम खाना चाहते हैं वे ही हमारे शत्रु हैं तो हम पूछते हैं कि मांसोपदेशक जी के साथ बकरा भेड़आदि सीधे जीवों की क्या शत्रुता है ? यह बताइये। यदि कोई बकरा किसी की कुछ हानि करे तो जाति भर से वैर नहीं होना चाहिये। यदि कहें कि शत्रुओं को मारने काटने की आज्ञा वेद से इस लिये दिखाई है कि निकृष्ट दुष्ट प्राणियों को मारने में दोष न ठहरे तो मांस खाना सिद्ध हो जायगा। तब यह सोचना

आवश्यक है कि दुष्ट मनुष्य के मारने की आज्ञा वेद में मिले तो क्या उस का भी मांस खाना अच्छा मानोगे? क्या सर्प वृश्चिकादि को भी खा जाओगे?। इस से यह सिद्ध है कि मारने की आज्ञा से खाना सिद्ध नहीं होता। इत्यादि विचार के अनुसार हम परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हमारे भाई मांसाहारियों की बुद्धि को वह शुद्ध करे वे लोग अपने समान सब प्राणियों का सुख दुःख हानि लाभ देखने शोचने लगें और जैसे अपने प्राण की वा अपने मांस की रक्षा चाहते हैं वैसे वे अन्यों की भी रक्षा चाहने लगें और धर्मात्मा बनें। और अपने आत्मा को जो प्रिय हो वह भी धर्म का एक बड़ा चिह्न धर्मशास्त्रकार मनु जी ने माना है वा यों कहो कि वास्तव में वही धर्म का मुख्य लक्षण है। थोड़ा शोचने से प्रतीत होताहै कि-मुझ को कोई मार न डाले, मुझ को कोई दुःख न दे, मेरी चोरी कोई न करले, मेरा मांस रुधिर कोई न खाजाय इत्यादि इष्ट प्रत्येक जीवधारी अपने २ आत्मा में चाहता है यही सबके आत्मा को प्रिय है। जैसे मांसाहारी लोगों को अपनी हिंसा वा अपना मांस किसी के खाने को काट लेने देना प्रिय नहीं वैसे मान लो कि प्रत्येक प्राणी के आत्मा को ऐसी बातें प्रिय नहीं इसी कारण हिंसा चोरी आदि अधर्म और अहिंसादि धर्म ठहर जाता है। हिंसा करके वा कराके मांस खाने में अधर्म होने का यह एक प्रत्यक्ष बड़ा प्रमाण है

इस का कुछ समाधान भी नहीं हो सकता तथापि दुराग्रही लोगों का मान लेना दुस्तर है । हे परमात्मन् ! ऐसे हठीले लोगों के चित्त से पक्षपात को दूर कीजिये । स्वार्थपरता के लोभ से बचा के शुद्ध कीजिये यही सर्वशक्तिमान् से हमारी प्रार्थना है ।

अब एक बात यह विचारणीय है कि वेद में जो प्रार्थना की गई है उस का मनुष्यों को जब समान अधिकार माना जाय कि जिन किन्हीं दो दलों में शत्रुता हो जाय वे दोनों उन्हीं मन्त्रों से अपने २ शत्रुओं को नष्ट भ्रष्ट करने की प्रार्थना कर सकते हैं तो यदि दोनों की प्रार्थना सत्य हो तो परमेश्वर दोनों दलों को नष्ट कर डाले क्या यह ठीक उचित होगा ? । हमारी समझ में यह कदापि ठीक नहीं क्योंकि इस से धर्माधर्म की व्यवस्था बिगड़ जायगी । तब हम को यह मानना चाहिये कि धर्मात्मा के लिये प्रार्थना की आज्ञा है और धर्मात्मा की प्रार्थना ही परमेश्वर सुनेगा अधर्मी को प्रार्थना से रोक नहीं सकता पर उस की प्रार्थना सदा निष्फल होगी । इसी से धर्माधर्म की व्यवस्था भी ठीक रहेगी और यही उचित भी है । अब रहा यह कि धर्मात्मा का विजय तो कर्मानुसार ही हो सकता है फिर वह व्यर्थ ही क्यों प्रार्थना करे तो इस का उत्तर यह होगा कि मानस वाचिक कायिक तीन प्रकार के कर्मों में प्रार्थना भी वाणी का कर्म है जैसे अन्य कर्मों का नियत फल होता है

वैसे प्रार्थना का भी होगा वा यों कहो कि कर्मानुसार जो फल होने वाला है वह प्रार्थना की सहायता पाकर और भी अच्छा वा शीघ्र होगा । जैसे किसी को संचित हुए कुपथ्य से रोग होने वाला हो तो उसी संचित कुपथ्य के अनुकूल नया कुपथ्य उस का सहायक मिल जाने पर प्रबलता के साथ शीघ्र रोग हो जाता है यदि सहायक न मिले तो उतने वेग के साथ शीघ्र रोग न हो और कुछ काल कटता जाना सम्भव है अथवा जैसे कोई अच्छा फल संचित कारण से होने वाला हो उस को अनुकूल सहायक मिल जाने पर अच्छा और शीघ्र हो जाता है इसी प्रकार सर्वत्र जानो पुण्य के अनुकूल पुण्य होता है और ईश्वरप्रार्थना भी एक पुण्य कर्म है । और पापी के संचित पाप के अनुकूल सहायक प्रार्थना नहीं इसी से सफल नहीं हो सकती । यदि कोई कहे कि पापी को प्रार्थना ही न करनी चाहिये तो इस का उत्तर यह है कि जब तक मनुष्य को पाप कर्मों से घृणा नहीं होती और बुराइयों से मन नहीं हटता तभी तक वह पापी है तब तक उस से आप ही प्रार्थना न हो सकेगी और उस को प्रार्थना करनी भी नहीं चाहिये क्योंकि सर्वथा निष्फल होगी । और जब उस के चित्त में पापों से घृणा हो जायगी तब वह अपने पहिले कर्मों से अपने को पापी मानने लगे गा । ऐसी दशा में वह अन्य भी अच्छे काम करने लगेगा तब उन की सहायकारिणी होने से प्रार्थना

भी सफल होगी और वह मनुष्य पापी नहीं माना जायगा। किन्तु धर्मात्माओं की किसी कोटि में गिना जावेगा। इस से सिद्ध हुआ कि धर्मात्मा की प्रार्थना सफल हो सकती है। तब शोच लो कि यदि हिंसा करने कराने वाले धर्मात्मा ठहरेंगे तो प्रार्थना भी उन की सफल होगी ॥

मांसोपदेशक जी ने अपनी प्रार्थना में एक दो मन्त्र ऐसे भी लिखे हैं कि जिन में शत्रु के हाथ पांव मांस रुधिर काटने निकालने की प्रार्थना की गयी है। जैसे—

स्कन्धान् प्रजहि शिरः प्रजहि। मांसान्यस्य शातय ० इत्यादि।

हे रुद्र तू इस हमारे शत्रु के कन्धे काट शिर काट। इस के मांस के टुकड़े २ कर दे त्वचा अलग कर दे अर्थात् जैसे कोई मांसाहारी अपने भृत्य (नौकर) को आज्ञा देवे कि तू मेरे खाने को इस की हड्डी नाड़ी नसें खाल आदि को अलग करके शुद्ध मांस निकाल के ला मैं खाऊं। वैसी यहां प्रार्थना की गयी है। उपदेशक जी से पूछना चाहिये कि क्या परमेश्वर से ही आप कसाई का काम कराना चाहते हो ?। यदि कहो कि हम तो अपने शत्रुओं को तंग कर २ दुःख पहुंचाने की प्रार्थना परमेश्वर से करते हैं तब हमारा प्रश्न यह है कि कन्धे शिर काटने मांस के टुकड़े २ कराने करने को आप अच्छा समझते हो वा बुरा ? यदि

अच्छा कहो तो शत्रु के अनिष्ट की प्रार्थना नहीं बनेगी। और बुरा कहो तो सभी का मांस काटना आपने बुरा मान लिया और यह भी सिद्ध हो गया कि अपने खाने के लिये किसी का मांस काटो वा कटावोगे उस को दुःख पहुंचना सिद्ध हो गया और दुःख पहुंचाना पाप सिद्ध ही है तब मांसभक्षण पाप तुमने भी मान लिया और यदि नहीं मानोगे तो तुम्हारी प्रार्थनानुसार शत्रुओं को भी मांस काटने से दुःख नहीं हो सकता।

अब शोचिये तो सही आप की प्रार्थना आप के पग की कुल्हाड़ी हो गयी वा नहीं? मांसभक्षण को अच्छा ठहराने के लिये तो उद्योग किया परन्तु उसी उद्योग से बुरा ठहर गया इस से अब भी समझो तो ऐसे निकृष्ट पक्ष को छोड़ो नहीं तो यही हाल रहेगा कि दो जगह जोड़ोगे चार जगह टूटेगा। क्योंकि तुम्हारा पक्ष विना नींव की भित्ति है यह निश्चय रक्खो। मांसभक्षण के पुस्तकों के बनाने वाले ने अपना नाम सब पुस्तकों में छिपाया है। यद्यपि इस तृतीयभाग में पं० देवीचन्द शर्मा का नाम लिखा है तथापि उस में चालाकी मालूम होती है क्योंकि "पं० देवीचन्द शर्मा ने निर्णयार्थ प्रकाश किया" इस लेख से पं० देवीचन्द जी निर्माता सिद्ध नहीं होते तो बनाने वाला यहां भी छिप गया। इन को इतना विचार नहीं आता कि इस प्रकार

हम कहां तक छिपेंगे किसी प्रकार कोई जान ही लेगा तब कितना लज्जित होना पड़ेगा ॥

अब इन के मांस को सिद्ध करने वाले प्रमाणों को देखिये । इस पुस्तक में एक चालाकी और प्रतीत होती है कि एक तो छोटी सांची और मोटे अक्षरों में छपाया और द्वितीय ऐसे ही बहुत वचन लिख डाले कि हैं जिन से कुछ पुस्तक देखने में मोटा होजाय जैसा कि मांस के बढ़ने से कोई मुटाया हो जिस को देख मांसाहारी प्रसन्न हों वैसे मोटे पुस्तक को देख के जानें कि देखो वेद से इतने प्रमाण मिलते हैं जिन से इतना मोटा बड़ा पुस्तक बन गया । वास्तव में शोचा जाय तो ऐसे बहुत कम वाक्य वा मन्त्र हैं जिन का उत्तर हम को देना चाहिये। अर्थात् जिन मन्त्रों में मांसशब्द के साथ किसी प्रकार की भक्षण क्रिया आवे तो उस का ही उत्तर देना हम को अधिक आवश्यक है और ऐसे ही प्रमाण छांटकर मांसोपदेशक जी लिखते तो उन का पुस्तक चतुर्थांश भी न होता । हम अपने पाठकों को सूचित करते हैं कि जिन प्रमाणों का हम कुछ उत्तर न लिखें उन के लिये कोई कहे तो यही उत्तर देना चाहिये कि तुम्हारी प्रतिज्ञा मांसभक्षण को अच्छा ठहराने की है उस के अनुसार जिन मन्त्रों में मांस और भक्षण दोनों ही क्रिया नहीं उन को पहिले अपने पक्ष के पोषक तुम ठहरा दो तब हम से उत्तर मांगना ।

मां० अथ मांसं भक्ष्यं नवेति विचारे वैदिकराद्धान्त आथर्वणः ।

अब मांसभक्ष्य है वा नहीं इस विचार में वैदिकसिद्धान्त अथर्ववेद का है ।

उ०-यह लेख मांसोपदेशक का प्रतिज्ञारूप जानो यह कैसा असम्बद्ध वा ऊटपटांग है सो सब लोग स्वयं शोच लेंगे । जब मांस के साथ भक्षणशब्द को बुरा समझ के मांसभक्षण विचार पुस्तक का नाम नहीं रक्खा फिर यहां भक्षधातु का प्रयोग क्यों किया ? क्या यह प्रयोजन था कि ऊपर का लिखा नाम सहसा सब के दृष्टिगोचर होगा और भीतर का लेख सब कोई नहीं देखता । अस्तु जो हो अब हम व्यर्थ लिखना ठीक नहीं समझते थोड़ीसी गोलमाल पोलपाल पाठकों को दिखाना उचित समझी सो लिख दी ॥

मां०-यद्वा अतिथिपतिरतिथी-न्प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते । अथर्व० ९ । ६ । ३ ॥

अतिथियों की प्रार्थना करने वाला अतिथियों की ओर जो देखता है वह यज्ञ को देखता है ॥

यह इन मांसोपदेशक जी का पहिला प्रमाण है । प्रतिज्ञा की थी कि मांसभक्ष्य है वा नहीं परन्तु जो प्रमाण

देने लगी उस से मांस का भक्ष्य वा अभक्ष्य होना कुछ नहीं निकला यह लेख असम्बद्ध हो गया फिर हम इस का क्या उत्तर देवें ?। यद्यपि पूर्वोक्त मन्त्र का अर्थ भी अज्ञान कीचड़ में फसजाने से ठीक नहीं हुआ तथापि हमारा यहां यह सिद्धान्त नहीं कि हम सब भूलें उन को दिखावें किन्तु हमारा मुख्य उद्देश्य यह है कि यदि किन्हीं मन्त्रों में मांस के भक्ष्य होने की शङ्का किन्हीं को होना सम्भव हो तो उन का हम यथोचित समाधान देवें। इस लिये अब ऐसे वाक्यों पर हम कुछ न लिखेंगे ॥

मां०—यत्तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः। अथर्व०। ९। ६। ६॥

भावार्थः—अतिथि के लिये जो तर्पण लाते हैं जो अग्नि तथा सोम के लिये यज्ञ में पशु मारा जाता है वह ही वह है॥

उ०—यह अर्थ पं० ठाकुरप्रसाद वा देवीचन्द आदि उन मांसोपदेशकों का किया है जिन का बनाया यह पुस्तक है। इस के अर्थ में मांसोपदेशक जी ऐसे गिरे हैं जिस का ठिकाना नहीं। इस मन्त्र के अन्य पदों के अर्थ में कुछ अधिक विवाद नहीं अर्थात् केवल एक (बध्यते) क्रिया के अर्थ पर विचार करना है। मांसोपदेशक जी ने इस क्रिया

पद को हनधातु का प्रयोग माना ज्ञात होता है क्योंकि हिं-सार्थं वध धातु कोई है नहीं अन्य किसी प्रकार बध्यते क्रिया का मारा जाना अर्थ हो ही नहीं सकता। सो यह लेख सर्वथा मिथ्या है। हन धातु का बध्यते शब्द व्याकरण से बन ही नहीं सकता। हन को बधादेश करने के लिये पाणिनि के तीन सूत्र हैं-

हनो वध लिङि॥ लुङि च॥ आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्॥ २।४।४२।४३।४४॥

इन तीनों सूत्रों मे लिङ् और लुङ्लकार में हन को बधादेश होता है। बध्यते लट्लकार का प्रयोग है। तथा हन को जो वधादेश होता है उस में अन्तःस्थ वकार है और बध्यते क्रिया में वेद पुस्तकों में भी पवर्ग का पिटचिरा बकार पढ़ा गया है। इस कारण हन को वधादेश कर के यह प्रयोग कदापि नहीं बन सकता। तब—बन्ध, बन्धने भ्वादि। और बन्ध, बन्धने क्र्यादि। इन्हीं दो धातुओं में से किसी का यह बन सकता है। इन दोनों धातुओं का एक ही अर्थ है। बन्धन नाम बांधना यह प्रसिद्ध है इस का हिंसार्थ कदापि नहीं हो सकता। मांसोपदेशक जी ने इसी तृतीयभाग की भूमिका में प्रतिज्ञा की है कि हम ने अष्टाध्यायी आदि आर्ष पुस्तकों के प्रमाणानुसार मन्त्रों का अर्थ लिखा है अपनी ओर से कल्पना कुछ नहीं की। सो

अब उपदेशक जी ! आप बताइये किस व्याकरण के अनुसार बध्यते का हिंसार्थ किया है ?। पाठक लोगो ! ध्यान दीजिये (यह साधारण गलती नहीं है) ऐसे ही अल्पज्ञ महावेदविरोधी होते हैं जो वेद के अर्थ का सत्यानाश अपनी अल्पज्ञता से करते हैं । यदि मांसाचार्यादि लोग इस बध्यते क्रिया को पाणिनीय व्याकरणानुसार हिंसार्थ न ठहरा देवें तो आप लोग इन का पूर्ण पराजय समझ लेने में क्या फिर भी आगा पीछा शोचेंगे ?। मेरी समझ में आप को निस्सन्देह पराजय मान लेना चाहिये। इस मन्त्र का अर्थ मैं आर्यसिद्धान्त में लिख चुका हूं तथापि फिर थोड़ासा लिख देता हूं-

अ०-अग्निश्च सोमश्च-अग्नीषोमौ देवते अस्य सोऽग्नीषोमीयः । पञ्चतत्त्वसम्बन्धेन पार्थिवतत्त्वेनोत्पन्नानि पश्वादिशरीराणि तत्त्वगुणयुक्तान्येव भवितुमर्हन्ति। तच्छरीरेषु स्वभावाकृतिवर्णादिभेदेन तत्त्वगुणतारतम्यमनुमेयम् । यादृशगुणप्रधानः पशुर्भवति ततस्तादृशगुणप्रधानान्येव दुग्धादीनि निस्सरन्ति । अतःकारणादग्नीषोमीयात्पशोरेव सत्त्वभूयिष्ठं शान्तिप्रदं सुमधुरं बुद्धिबलौजसां वर्धकं च दुग्धमुत्पद्यते तस्मा-

दुग्धाद्याग्नीषोमीयः पशुर्बन्धनीयः । तज्जन्यदुग्धादिना सम्बद्धएव स्वस्य स्वमान्यानां च तृप्तिकर आहारः सम्पादनीयः । येन सत्त्वगुणवृद्धिपुरस्सरा धर्मवृद्धिः स्यादिति वेदमन्त्रस्य तात्पर्यं सुधीभिरनुसन्धेयम् । तृप्यन्त्यनेन तत्तर्पणं दुग्धादिकमाहरन्ति भुञ्जते पिबन्ति ॥

भावार्थः—(यत्) जिस कारण वा जिस विचार से जिस (तर्पणम्) तृप्ति के हेतु तृप्त करने वाले पदार्थ का (आहरन्ति) आहार भोजन करते वा तृप्तिकारक वस्तु का आहार करना चाहिये। और बलबुद्धि आरोग्य तथा आयु को बढ़ाने वाले वस्तु के आहार की सदा इच्छा रखना ही सज्जनों का कर्त्तव्य है। इस प्रकार का आहार (यः, एव) जो ही (अग्नीषोमीयः) अग्नि और जल सम्बन्धी सौम्य तत्त्व जिस में प्रधान हैं ऐसा (पशुः) गौ आदि पशु (बध्यते) बांधा वा दुग्धादि के लिये रक्खा जाता है उस से सम्बन्ध रखता है (सएव) वही पशु (सः) वह है जिस को हम तृप्तिकारक उत्तम आहार का हेतु मान सकते हैं॥

तात्पर्य यह है कि पांचों तत्त्व से मिले हुए पार्थिव तत्त्व से पशवादि का शरीर बनता है इस कारण सभी देहधारियों में किन्हीं तत्त्वों के प्रधान वा किन्हीं के गौणगुण

रहते ही हैं। उन २ देहधारी गौ आदि के शरीरों में स्व-भाव आकृति और रूप रंगादि का भेद देख कर तत्वों के न्यूनाधिक गुणों का अनुमान कर लेना चाहिये। जैसे गुणों में प्रधान गौ आदि पशु होगा वैसे ही प्रधानगुण वाले उस के दुग्धादि होंगे। इस कारण अग्नीषोमीय पशु से ही सत्वगुणप्रधान शान्तिदायक मीठा बुद्धि बल और पराक्रमों का बढ़ाने वाला दुग्ध उत्पन्न होगा इस कारण दूध के लिये अग्नीषोमीय पशु बांधना चाहिये। उस से हुए दुग्धादि के संयोग से ही अपना और अपने मान्यों का आहार ब-नाना चाहिये। जिस से सत्वगुण की वृद्धिसहित धर्म की वृद्धि हो यह वेद मन्त्र का आशय है। यद्यपि मूलमन्त्र में दुग्ध के लिये पशु बांधा जाता वा बांधना चाहिये ऐसा नहीं कहा तथापि पशुओं का बांधना प्रायः दुग्धादि के लिये ही होता है निष्प्रयोजन कोई नहीं बांधता। इस लिये दुग्धार्थ गौ आदि का बांधना अधिक प्रसिद्ध होने से नहीं कहा गया। मांसोपदेशक-

एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीया-त् ॥ अथर्ववेदे ९।६।३९ ॥

यही अत्यन्त स्वादु पदार्थ जो गौ का दूध दधि मक्खन घी आदि जो अतिथि को दिया जाता है तथा सामान्य दूध

और मांस अतिथि को खिलाये बिना न खावे किन्तु अ-तिथि को खिला कर दूध मांसादि को खावे ॥

उत्तर—इस मन्त्र पर मांसोपदेशक जी ने ११ पृष्ठ भर कलम घिसी है जिस का सारांश ऊपर चार पङ्क्ति में लिख दिया गया। यद्यपि इस मन्त्र पर अनेक झगड़े लिखे जा सकते हैं जिन से बहुत लेख बढ़ जाना सम्भव है तथापि विशेष आवश्यकता न देख कर हम सब अंशों पर नहीं लिखेंगे केवल दो बातों पर अपनी अनुमति यथाशक्ति लिखना उचित समझो है। १—इस मन्त्र में ३१ मन्त्र से "तस्मात्पूर्वो नाश्नीयात्" इस वाक्य की अनुवृत्ति आती है वा नहीं। और २—मन्त्र का ठीक २ प्रमाणानुकूल अर्थ क्या है?। इन्हीं दो बातों का निश्चय होने से पाठकों के प्रायः सभी सन्देह निवृत्त हो जायेंगे ऐसी आशा है। इस में पहिली बात अनुवृत्ति लाने की है सो इस अथर्ववेद के सभी काण्डों में स्पष्ट यह नियम दिखाया है कि जिन सूक्तों के प्रथम मन्त्र के अन्त्य का वाक्य जिस की अगले प्रत्येक मन्त्र में अनुवृत्ति करना है उस को छापने वालों ने भी द्वितीयादि मन्त्रों में नहीं छापा किन्तु उस के स्थान में सर्वत्र शून्य देते गये हैं जिस अन्त के मन्त्र में अनुवृत्ति समाप्त हुई है वहां उस वाक्य को फिर से पूरा लिख दिया है।

यही चाल आज कल भाषाछन्द बनाने वालों की भी है कि तुक के दो एक अक्षर लिख कर विन्दु देते जाते हैं

और जहां से आगे उस तुक को फिर चलाना नहीं होता वहां अन्त में पूरी तुक लिख देते हैं। इस नवम काण्ड के अगले चतुर्थ सूक्त में भी यही बात है। मूल अथर्व के पुस्तक को जो लोग लौट पौट कर देखेंगे उन को यह नियम ठीक मालूम हो जायगा छठे काण्ड के इक्कीशवें प्रपाठक के इस तृतीय सूक्त में केवल नव मन्त्र हैं उन सब का यथार्थ पाठ हम यहां पाठकों के अवलोकनार्थ लिख देते हैं जिस से अनुवृत्ति का नियम ज्ञात होगा।

इष्टं च वा एष पूर्त्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥३१॥ पयश्च वा एष रसं च० ॥ ३२ ॥ ऊर्जां च वा एष स्फातिं च० ॥ ३३ ॥ प्रजां च वा एष पशूंश्च० ॥ ३४ ॥ कीर्तिं च वा एष यशश्च ॥३५॥ श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥३६॥ एष वा अ-

तिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात्पूर्वो ना-
श्नीयात् ॥ ३७ ॥ अशितावत्यति-
थावश्नीयाद्यज्ञस्य सात्मत्वाय य-
ज्ञस्याविच्छेदाय तद्व्रतम् ॥३८॥
एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षी-
रं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्३९

अब पाठक लोग ध्यान देकर शोचें कि सूक्त के प्रथम ३१ मन्त्रस्थ (गृहाणामश्नाति) वाक्य की अनुवृत्ति ३६ वें मन्त्र तक लाई गयी इसी लिये छत्तीशवें मन्त्र में फिर से पूरा वाक्य लिखा गया। और इन छः मन्त्रों में नियम वा उचित से विरुद्ध अतिथि से पहिले भोजन करने वाले का निन्दारूप अर्थवाद दिखाया है। और "अतिथि से पहिले भोजन न करना चाहिये वा अतिथि को खिला कर खाना चाहिये" यह विधि वाक्य है। और वेद शास्त्र का यथावत् पढ़ने जानने वाला शुभाचरणसम्पन्न अतिथि हो सकता है उस से पहिले भोजन गृहस्थ न करे यह सैंतीसवें मन्त्र से दिखाया इस से सिद्ध हुआ कि अतिथि वेषधारी मूर्ख से पहिले भोजन करने में दोष नहीं। अड़तीशवें मन्त्र से यह

दिखाया कि अतिथियज्ञ की अनुकूलता और उस में विच्छेद वा विघ्न न होने के लिये अतिथि के भोजन कर लेने पर गृहस्थ पुरुष भोजन करे यही व्रत वा नियम है। यदि गृहस्थ पुरुष स्वयं भोजन कर के विद्वान् अतिथि को भोजन कराया चाहे तो अश्रद्धा देख वा अपना अपमान समझ के न करे यह सम्भव है इस दशा में अतिथियज्ञ का विच्छेद होगा। अब रहा उनतालीशवां मन्त्र उस में गृहस्थ तथा अतिथि के भक्ष्याभक्ष्य का नियम किया है वा यों कहो कि भक्ष्य का विधान और अभक्ष्य के निषेधार्थ यह मन्त्र है जिस का अक्षरार्थ स्पष्ट लिखते हैं-

अ०-(यदधिगवम्) गवि सम्भवमधिगवमिति विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः (क्षीरं वा) क्षीरमिवान्यदपि मधुरप्रायं हिंसादिदोषशून्यं च वस्तु भक्ष्यमात्रम् (एतद्वाउस्वादीयः) एतदेव स्वादिष्ठं शास्त्रानुकूल्येन भोक्तुमिष्टमतोऽतिथिरश्नीयात् गृहस्थश्चाशयेदिति (मांसं वा) मांसमिव हिंसाद्यधर्मसम्पाद्यमभक्ष्यं वस्तु (तदेव, नाश्नीयात्) अतिथिर्न भुञ्जीत गृहस्थश्च नाशयेदिति।

भा०-अत्र मन्त्रे वाक्यद्वयं बोध्यम् । उत्तर वाक्ये निषेधपाठात्पूर्ववाक्ये प्रतिप्रसवत्वेन विधिक्रियाया अध्याहारः । विकल्पानवक्लृप्त्युपमानद्वन्द्वसमुच्चयेषु वा शब्दइति गणरत्नमहोदधिः । मणिवादीनामिति वार्तिकनिराकरणाय सिद्धान्तकौमुदीकारादिभिरप्यभिमतएवेवार्थे वा शब्दः । क्षीरमिति भक्ष्यमात्रस्योपलक्षकं मांसं चाभक्ष्यमात्रस्य तेन भक्ष्यविधिरभक्ष्यप्रतिषेधश्चोभयमनेन प्रतिपाद्यते । ये चात्र सप्तत्रिंशत्तममन्त्रात्पूर्वो नाश्नीयादित्यनुवर्त्तयन्ति ते तावदिदं प्रष्टव्याः किंच भोः ! अष्टत्रिंशत्तमं मन्त्रमुल्लङ्घ्य कथमप्रासङ्गिकमनुवर्त्तनम् ? पूर्वस्मादेव नाश्नीयादित्यस्यानुवर्त्तनं मन्त्रकारस्याभीष्टं चेत् किमर्थं नाश्नीयादित्यस्य पुनः पाठः ? तथा च दधिदुग्धनवनीतघृतमांसानि भवत्परिगणितानि मधुपर्कीयवस्तून्यतिथेः पूर्वं नाश्नीयादिति भवदभिमतं तदा गोधूमशाष्कुल्यपूपादीनि त्वतिथेः पूर्वमपि किमश्नीयात् ? न चेयमर्थापत्ति

राचार्य्याचार्य्येणापि वारयितुं शक्या । अप्रासङ्गिकपदानुवर्त्तनमपि वेदस्यानर्थस्तस्येदं दूषणं फलम्बोध्यम् । नचास्मदर्थे किमपि दूषणमस्ति तस्मादाचार्य्यकृतोऽर्थो रक्तमांसादिवदेव विज्ञैर्हेयइति किं बह्वालापेनेति ॥

भावार्थः–(यदधिगवम्) जो यह गौ के शरीर में उत्पन्न होने वाला (क्षीरं वा) दूध, उस के तुल्य मधुरप्राय हिंसादि दोषरहित अन्य भी भोज्य वस्तु जिस को खाने की धर्मशास्त्र में आज्ञा है (एतद्वा उ स्वादीयः) यही सब शास्त्रों की आज्ञा के अनुकूल स्वादिष्ठ खाने को अभीष्ट है इस कारण ऐसे भक्ष्य पदार्थ को अतिथि खावे और गृहस्थ खवावे (मांसं वा) और जो मांस के तुल्य हिंसादि अधर्म से प्राप्त होने योग्य अभक्ष्य वस्तु हो (तदेव नाश्नीयात्) उसी को अतिथि न खावे और न गृहस्थ उस को खवावे ।

भा०–इस मन्त्र में दो वाक्य हैं पिछले वाक्य में निषेध वाचक नकार का पाठ होने से प्रतिप्रसव अर्थात् निषेध का निषेध कि मांसादि अभक्ष्य को जैसे न खावे वैसे दुग्धादि भक्ष्य को भी न खावे सो नहीं किन्तु दुग्धादि को अवश्य खावे इस प्रकार पहिले वाक्य में विधान की क्रिया का उचित अध्याहार किया गया । इस अतिथियज्ञ के प्रकरण में भक्ष्याभक्ष्य का विधि निषेध कहीं अन्य मन्त्र में दिखा-

या भी नहीं गया जिस का सूक्ष्मान्त में दिखाना अत्यन्त उचित है। जिन लोगों के मत में मांसादि सभी कुछ भक्ष्य है अभक्ष्य कुछ नहीं उन को भक्ष्याभक्ष्य के विधि निषेध की आवश्यकता भले ही न हो पर धर्माधर्म का विवेक मानने वालों के लिये वेद से ऐसे उपदेश के मिलने की आवश्यकता अवश्य है। वा शब्द उपमा वाचक गणरत्नमहोदधि में लिखा है और भट्टोजिदीक्षितादि वैयाकरण भी वा शब्द को इवार्थ में मानते ही हैं। इस मन्त्र में क्षीर शब्द सब भक्ष्यमात्र वस्तु के उपलक्षणार्थ और मांस शब्द अभक्ष्य मात्र के सूचनार्थ है इस कारण भक्ष्य का विधान और अभक्ष्य का निषेध दोनों प्रकार की आज्ञा इस मन्त्र में हैं। जो लोग सैंतीशवें मन्त्र से इस मन्त्र में (पूर्वो नाश्नीयात्) इन पदों की अनुवृत्ति लाते हैं। इस पर उन लोगों से हम यह पूछते हैं कि क्योंजी ? बताइये तो सही कि अड़तीशवें मन्त्र को बीच में छोड़कर असंबद्ध अनुवृत्ति कैसे कूद पड़ी ? तथा पूर्व से ही जब (नाश्नीयात्) की अनुवृत्ति लाना मन्त्रकार को भी अभीष्ट था तो फिर (नाश्नीयात्) ये दोनों पद इस ३९ वें मन्त्र में क्यों पढ़े ? यहां आचार्य की बुद्धि को लोभने ऐसा दबाया कि कुछ भी न सूझ पड़ा कि हम से कोई पूंछेगा तो क्या उत्तर देंगे ! जब एक नाश्नीयात् पहिलेसे लाये एक इस मन्त्र में पढ़ा था तब दो हो गये तो क्या अर्थ करोगे कि दूध दही घी मांस अतिथि से प-

हिले न खावे सो नहीं किन्तु अवश्य खावे ? । हम अपने पाठकों को सूचित करते हैं कि इस का उत्तर मांसोपदेशक जी से अवश्य मागें । तथा एक दोष यह भी है कि दूध दही घी मांस इन मधुपर्क योग्य वस्तुओं को अतिथि से पहिले न खावे यह मांस भोजन विचार के तृतीय खण्ड में लिखा है । तो क्या गेहूं आदि के पूरी पुआ आदि अतिथि से पहिले भी गृहस्थ खालेवे न ? क्या आचार्य को इतनी ही वेदार्थ समझने की शक्ति है ? इस अर्थापत्ति से आने वाले दोष को आचार्य के आचार्य भी निवृत्त नहीं कर सकेंगे । अयुक्त असंबद्ध पदों की अनुवृत्ति मूल के अभिप्राय से विरुद्ध करना भी वेद का अनर्थ करना है उसी का यह फल हुआ कि इन का अर्थ अनेक दोषों से दूषित हो गया । और हमारे अर्थ में कोई दोष नहीं है इस लिये विचारशीलों को चाहिये कि रुधिर मांसादि के ही तुल्य आचार्य के किये अर्थ को भी घृणित मान कर त्याग दें ॥

अब इस से आगे एक मन्त्र १८ वें सूक्त का ४३ वां है और सब से अधिक विवाद भी इसी मन्त्र पर है । सब से बड़ा प्रमाण मांसाहारियों का यही है । पर हम सब महाशयों से विनयपूर्वक निवेदन करते हैं कि आप लोग हठदुराग्रह को छोड़ कर न्यायदृष्टि से पहिले वेद के सिद्धान्त को शोचें कि वेद में हिंसा को कहीं कर्त्तव्य माना वा ठहराया है वा नहीं किसी ग्रन्थ में परस्पर विरुद्ध दो सिद्धान्त नहीं हो

सकते यदि वेद अहिंसा को धर्म मानेगा तो हिंसा को धर्म नहीं मान सकता। हमारा विचार यह तो दृढ़ और व्याकरण तथा मीमांसादि शास्त्रों के सर्वथा अनुकूल है कि वेद के शब्द सामान्यार्थपरक हैं विशेषार्थ वा रूढ़ि अर्थ के वाचक नहीं हैं इसी के अनुसार मांसशब्द के अर्थ पर यहां अन्तिम विचार लिखते हैं-मांस शब्द सृष्टि के आरम्भ से ही वेद में था तब कोई निरुक्तादि पुस्तक भी नहीं बना था निरुक्त व्याकरण वा धर्मशास्त्रादि वेद से भिन्न ग्रन्थों में वेद में आने वाले मांसपद का अभिप्राय देख कर प्रकृति प्रत्यय वा निर्वचन द्वारा ऋषि लोगों ने अर्थ की कल्पना प्रकाशित की यह विचार निश्चित ही समझिये। मांसपद का सामान्यार्थ शरीरादि पदार्थ का तृतीय परिणाम है इसी को तीसरा धातु भी कह सकते हैं। किसी वस्तु को खाने वाले चर वा अचर प्राणी वृक्षादि स्थावर प्रथम उस २ पदार्थ का भक्षण वा भोजन करते हैं वह आहार परिपक्व हो कर उस से जो पहिला परिणाम अवस्थान्तर (एक अन्य हालत) बनती है उस का नाम रस होता उस रस के परिपक्व होने पर जो द्वितीय परिणाम वा विकार उत्पन्न होता है उस का नाम रक्त वा रुधिर धातु है। जिस के विषय में सुश्रुत में लिखा है कि-

तेजसा रञ्जितास्त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्।
अव्यापन्नाः शरीरेण रक्तमित्यभिधीयते।

यह पहिला रसनामक धातु शरीरस्थ पित्तनामक अग्नि से रंगा जाता है और जब तक वह जमकर शरीर के साथ मांसरूप से न जुड़ जावे तब तक उस का नाम रक्त है। संस्कृत में रंगे हुए पदार्थ का नाम रक्त है और रंगा हुआ रुधिर प्रायः लाल होता है इस कारण लाल वस्त्रादि को भी रक्त कहते हैं। इसी लिये रुधिरादि कई शब्दों से रंगा वा लाल अर्थ न होने पर भी वे उसी वस्तु के वाचक माने जाते हैं। वही रुधिर जब काल पाकर शरीर में जम जाता और शरीर के जमे हुए धातुओं के साथ जुड़ जाता है तब उस तृतीय परिणाम वा अवस्थारूप विकार का नाम मांस होता है। सो इस प्रकार वृक्ष वनस्पत्यादि के भी तृतीय परिणाम का नाम मांस है। इसी लिये सुश्रुत ग्रन्थ के शारीरस्थान में यह अभिप्राय स्पष्ट लिखा है कि-

अपक्वे चूतफले स्नाय्वस्थिमज्जानः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते पक्वे त्वाविर्भूता उपलभ्यन्ते ॥

अर्थात् आम्रादि के कच्चे फल में नसें हड्डी और मज्जा चरबी प्रतीत नहीं होती किन्तु पक जाने पर गुठली के ऊपर जो रोम से निकलते हैं वे नसें गुठली का कठोर भाग हड्डी तथा उस में चिकना अंश मज्जा होती है अर्थात् जैसे कच्चे फल वा अति छोटे वृक्षादि में सब धातु होते हैं पर जिस का आविर्भाव नहीं होता वह प्रसिद्ध में नहीं दीखता

वैसे पुत्र वा कन्या के शरीरों में भी वीर्य तथा आर्त्तव रुधिर होता है पर वह सूक्ष्म दशा में रहने से प्रसिद्ध नहीं दीख पड़ता । इसी प्रकार महाभारत शान्तिपर्व मोक्ष धर्म में स्थावरों में सब सातों धातुओं का होना स्पष्ट ही लिखा है।

त्वक् च मांसं तथास्थीनि मज्जा स्नायुश्च पञ्चमम् । इत्येतदिह संघातं शरीरे पृथिवीमयम् ॥१॥

त्वचा, मांस हड्डी मज्जा नसें ये सब स्थावर जङ्गम प्राणियों में पृथिवी के विकार हैं । ऐसे ही अग्नि जलादि के कार्य भी सब स्थावर जङ्गमों में एक से दिखाये हैं ॥

तथा अन्य ग्रन्थों में भी ऐसा लेख अनेक स्थलों में खोजने से मिलेगा । वह सब वेद के सामान्य अर्थांश को लेकर लिखा गया है । सुश्रुत के प्रमाण में मांस शब्द इस लिये नहीं आया कि कच्चे और पक्के दोनों प्रकार के फलों में गूदारूप मांस तो विद्यमान ही है। वास्तव में गूदा का नाम मांस है । जैसे स्थावरों के फलादि में गूदा होता वैसे ही मनुष्य पशु पक्षी आदि के शरीरों में भी जो गूदा है उसी का नाम मांस है । लोक में वा लौकिक ग्रन्थों में फलादि का गूदा मांस नहीं कहाता यह लौकिक बात है अर्थात् किन्हीं कारणों से मनुष्यादि के शरीरों में रसादि धातु प्रधान माने गये और स्थावरों में गौण होगये तो गौण और मुख्य में से मुख्य वा प्रधान को लेकर व्यवहार होता है । पर यह व्यव-

हार अधिक कर लोक में ही घटता है वेद में नहीं । वेद के शब्द सामान्यार्थबोधक हैं तथापि प्रधान का प्रधानता से और गौण का गौणरीति से विधि वा निषेध माना जायगा । और उत्सर्गापवाद लोक के समान वेद में भी हैं क्योंकि लौकिक ग्रन्थकारों ने वेद से ही सब नियम सीखे वेद ही सब का आदि कारण है । अब वेद में दो प्रकार का लेख मांसभक्षण विषय में मिलता है । एक तो विधि दूसरा निषेध और हिंसा करने का निषेध भी वेद में स्पष्ट ही है "ओषधे त्रायस्व मैनꣳ हिꣳसीः" इत्यादि । हिंसा शब्द की प्रवृत्ति भी मुख्य कर चर प्राणियों के मारने में होती है । यद्यपि स्थावरों के काटने तोड़ने में भी उन को कुछ दुःख पहुंचता है तथापि वह मनुष्यादि चर प्राणियों की अपेक्षा इतना न्यून है जिस को न होने के समान ही मान सकते हैं यह पहिले स्थावर विचार में अच्छे प्रकार सिद्ध कर चुके हैं । तात्पर्य यह निकला कि जहां मांसभक्षण का निषेध है वहां हिंसारूप अधर्म के भय से चर प्राणियों के मांस का निषेध मानना चाहिये और जहां मांस के भक्षण का वेद में विधान है वहां अचर वा स्थावरों के गूदारूप मांस की विधि है । इस प्रकार वेद के दोनों विधि निषेध अपने भिन्न २ अंशों में चरितार्थ हो जाते संगति ठीक लग जाती है कोई दोष नहीं आता । और जो लोग मांसपद से जङ्गम प्राणियों के ही तृतीय परिणाम का ग्रहण करते हैं

उन के मत में यह बड़ा दोष आवेगा कि वेद में जहां २ मांस का निषेध आवे वहां २ उसी का निषेध और जहां २ विधि आवे वहां २ उसी मांस का विधान मानें ये दोनों मन्तव्य परस्पर विरुद्ध पड़ेंगे इस का समाधान अन्य प्रकार से होना दुर्लभ है। और निरुक्त का प्रमाण कि-

"माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदतीति वा"

यह सर्वत्र बराबर दोनों के तृतीय परिणाम में घट जाता है। क्योंकि स्थावरों में भीतर २ मननशक्ति चेतनता विद्यमान ही है जिस को आर्यसिद्धान्त मासिकपत्र के भाग ६ में अच्छे प्रकार सिद्ध कर दिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार अठारहवें सूक्त के चौथे मन्त्र का संक्षेप से अर्थ लिखा जाता है-

स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति। यावद्द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्धे तावदेनेनावरुन्धे॥ अथर्व० ९। ६। ४३॥

अ०-सोऽतिथियज्ञस्य मर्मज्ञः पूर्वोक्तरीत्याऽतिथिपूजनं कर्त्तुं श्रद्दधानो गृहस्थो विद्वान् पुरुषः (एवं मांसमुपसिच्योपहरति) अतिथेः पू-

र्वमभुक्त्वा मांसं फलादेस्तृतीयं परिणामं सम्यक् सम्पाद्य पक्त्वा वाऽतिथये समर्पयति तस्य सुसमृद्धेन सम्यक्साङ्गोपाङ्गसाधनयुक्तेन द्वादशाहनामकयज्ञेन यावदनिष्टं दुःखमवरुन्धेऽवरुध्यते तावदनिष्टमनेनातिथिसेवनेनावरुन्धेऽवरुध्यते ॥

भा०—अत्र पूर्वार्द्धे विधिरुत्तरार्द्धे चार्थवादः। अस्मिन्नथर्वणो नवमकाण्डस्याष्टादशसूक्ते क्षीरं सर्पिर्मधु मांसमुदकं चेति पंच वस्तून्यतिथिपूजायै परिगणितानि तस्य नायमाशयो यदेभिरेव पूजनं कार्यं नान्यवस्तुनाऽपित्वन्यमहार्घ्य[illegible]ऽप्यलाभ एभिः समस्तैर्व्यस्तैर्वा यथाप्राप्तैरतिथिः सत्कार्य एवेत्यन्त उदकप[illegible] पूजनदाशयमनुसरता च मनुनेदमुक्तम्—तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥

अस्मिन्नेवातिथियज्ञप्रसङ्गे पूर्वं मांसभक्षणं प्रतिषिद्धं तत्र हिंसाधिक्याज्जङ्गमप्राणिमांसस्य

निषेधोऽत्र तु कन्दमूलफलादिस्थस्य तृतीयपरिणामस्य भक्षणविधिरिति सर्वमवदातम् ॥

भावार्थः-(स यो विद्वान्) अतिथियज्ञ का मर्म जानने वाला वो जो गृहस्थ विद्वान् पुरुष (एवं मांसमुपसिच्योपहरति) इस पूर्वोक्त प्रकार अतिथि से पूर्व स्वयं न खाकर मांस नाम फलादि के तीसरे परिणामरूप गूदा को अच्छा यथायोग्य काट बना वा पका कर अतिथि के लिये समर्पित करता है उस का (यावत्) जितना अनिष्ट दुःख (सुसमृद्धेन) अच्छी सम्हाली हुई साङ्गोपाङ्ग सामग्री से युक्त (द्वादशाहेन) वारह दिन में होने वाले द्वादशाह नामी यज्ञ से (अवरुन्धे) निवृत्त होता (तावदेनेनावरुन्धे) उतना अनिष्ट दुःख अतिथियज्ञ से रुकता वा निवृत्त हो जाता है। इसलिये अति[illegible] अवश्य करना चाहिये ॥

भा०-[illegible]
थेवा[illegible]है) मांस और जल ये पांच वस्तु अतिथि सत्कार के लिये गिनाये हैं इस का अभिप्राय यह नहीं है कि इन से भिन्न अन्य कोई पदार्थ का भोजन अतिथि को न करावे किन्तु इन का ग्रहण उपलक्षणार्थ है। यदि अन्य भोज्य पदार्थ प्राप्त न हों तो इन में से जो अपने पास हो उसी से अतिथि का पूजन करे सब के अन्त में उदक इस लिये पढ़ा

है कि और कोई पदार्थ न मिले तो केवल जल से ही अ-
तिथि की सेवा करे। मनुस्मृति में लिखा है कि-

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

जो कोई अतिथि गृहस्थ के घर आवे तो ठहरने को
स्थान, आसन, हाथ पांव धोने तथा पीने को जल और
प्रिय कोमल वाणी आये हुए का यह चार प्रकार का स-
त्कार सज्जनों के घर में कभी दूर नहीं होता अर्थात् भोजन
वस्त्रादि से अन्य सत्कार नहीं भी बने तो भी उक्त चार
वस्तुओं से सत्कार अवश्य करे। इसी अतिथि यज्ञ के प्र-
करण में पूर्व मांसभक्षण का निषेध १७ वें सूक्त के अन्त में
किया है वहां हिंसारूप अधर्म की अधिकता से चर प्राणियों
के मांस का निषेध है और कन्द घुइया आदि मूली आदि
जड़ और अमरूद आम आदि फलों के तृतीय परिणामरूप
मांस नाम गूदा के खाने का यहां विधान है। इस प्रकार
सब प्रकरण का निर्दोष अर्थ लग जाता है॥

हम उन महाशयों से पूछते हैं कि जो मांसभक्षण नि-
षेध तो वेद में मानते नहीं किन्तु सामान्य कर विधान-
मात्र मानते हैं तो उन के मत में सभी का मांस भक्ष्य ठह-
रता है क्या ये लोग गौ वा मनुष्यादि प्राणियों का भी मांस
भक्ष्य मानते हैं?। अब मांसभक्षण विषय में यह अन्तिम
सिद्धान्त हो चुका इस में किसी प्रकार का सन्देह अब शेष

नहीं रहा अब इस सिद्धान्त में केवल उन लोगों को सन्देह रहे तो सम्भव है कि जो वेद के सामान्यार्थपरक होने को न समझें तथा वेद के सिद्धान्तरूप मूलाशय में जिन की बुद्धि न चले उन को सन्देह रह सकता है। और जो मनुष्य पक्षपाती वा हठी दुराग्रही हैं उन को तो सभी सन्देह है उनके लिये कहना ही क्या ॥

अब इस से आगे मांसभोजन विचार तृतीयखण्ड ८६ पृष्ठ में एक मन्त्र " अजमनज्मि पयसा घृतेन० " इत्यादि लिखा है जिस का भावार्थ आचार्य जी ने किया है कि " मैं जल से और घी से उत्तम गुण वाले अच्छे पार्श्व वाले पुष्टिकारक खाने को बड़े को बकरा को पाकद्वारा व्यक्त करता हूं " क्या मैं शब्द से वैयाकरणाचार्य जी स्वयमेव पाचक बनते हैं? अच्छी बात है आप बकरे को पकाइये। हमारे पाठक इन के भावार्थ को देखें कैसा ऊटपटांग वा असंबद्ध है इसी से हमने अनुवाद लिख दिया है कि जिस से लोग जान लें कि वेदार्थ करने की ऐसी योग्यता हमारे आचार्यजी को है! इस अर्थ में " पाकद्वारा " यह पद ऊपर से जोड़ा है अर्थात् मन्त्र में कोई ऐसा पद नहीं जिस का पकाना अर्थ हो। यदि इन से कोई पूछे कि " पाकद्वारा " इस में कहां से आया किस प्रमाण वा युक्ति से ऐसा अर्थ किया तो आकाश की ओर देखने बिना और क्या कहेंगे? यदि कोई कहे कि घोड़ा ला, तो क्या घोड़े का मांस कोई लावे गा?

यहां बकरा कहने से बकरे का मांस कैसे ले लिया गया ? यदि कोई कहे कि "मैं जल वा दूध पिला घी खिला कर बकरे को प्रकट करता अर्थात् पुष्ट कमनीय दर्शनीय बनाता हूं," तो इस अर्थ को मिथ्या कहने के लिये उन के पास क्या प्रमाण है ? यदि इस को मिथ्या ठहराने के लिये कोई प्रमाण हो सकता है तो उसी प्रमाण से उनका अर्थ भी मिथ्या अवश्य ठहर जायगा । और वह प्रमाण यह है कि-

अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः । अजस्तमांस्यपहन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्धधानेन दत्तः ॥ अथर्व० ९ । ५ । ७ ॥

अर्थ—इस वर्त्तमान शरीर में रह कर जो श्रद्धापूर्वक अग्नि को रखता है [दत्तः, यह पद देङ् रक्षणे, धातु से बना है] अर्थात् जो नित्य नैमित्तिक नियम से अग्निहोत्रादि करता है उस के तमोगुण सम्बन्धी कुसंस्कारों को वह अग्नि नष्ट वा दूर कर देता है । इसी अर्थ के कारण अग्नि का नाम अज है तथा इसी अभिप्राय से सूर्यादि ज्योतियों को भी अज कहते हैं । व्याकरण में (अज गतिक्षेपणयोः) धातु का क्षेपण नाम अन्धकार को दूर करना अर्थ भी इसी वेद

के मन्त्र से लिया गया है। अग्नि और सूर्यादि प्रसिद्ध में भी रात्रि आदि के अन्धकार को दूर करते हैं। प्रकाश गुण अग्नि का है वही सूर्यादि अनेकरूप हो कर अन्धकार का नाश करता है। निघण्टु अ० १ खण्ड १५ में "अजाः" शब्द आया है वहां भी " अजन्ति सर्वतस्तमः क्षिपन्ति ते अजाः पूषवाहाः सूर्यरश्मयइति यावत् " यह निर्वचन निघण्टु के टीकाकार देवराजयज्वा ने किया है अर्थात् अन्धकार को दूर करने के कारण सूर्य की किरणों का नाम अज माना है जिस को सन्देह हो वह निघण्टु में देख लेवे। इस के उदाहरण में देवराजयज्वा ने ॥

अहेडमानो ररिवाँ अजाश्व। अवस्यतामजाश्व ॥ ऋ० सं० २। २। २। ४॥

यह ऋग्वेद का मन्त्र लिखा है इस में (अजाश्व) शब्द सम्बोधन है जिस का अर्थ यह है कि अज नाम अन्धकार को दूर करने वाले अश्व नाम शीघ्रगामी जिस के किरण हैं ऐसे पूषा का नाम अजाश्व है। इसी मन्त्र को हमारे व्याकरणाचार्य ने बकरा के प्रमाण में लिखा है और अजाश्व के स्थान में अजाश्च ऐसा अशुद्ध पाठ लिखा है। पाठकों को ध्यान देना चाहिये कि कितना अन्धकार है। जो प्रमाण इन के पक्ष को काटने वाला था उसी को अज्ञान से

अपना पोषक समझा। ऐसे ही अविद्याग्रस्त लोग अनिष्ट को इष्ट मान कर महाविपत्ति भोगते हैं। अब इसी अथर्ववेद के प्रमाण से तथा शब्दार्थ और निघण्टु की साक्षिता से सिद्ध हो गया कि अज नाम वेद में अग्नि का है बकरे का नहीं और आचार्य का किया अर्थ सर्वथा प्रमाणशून्य है अर्थात् अज शब्द से बकरे का ग्रहण करने के लिये आचार्य जी ने कोई प्रमाण भी नहीं दिया। लोक का प्रमाण वेद में इस से नहीं लग सकता कि वेद में अज शब्द पहिले ही था पीछे लोक में अज नाम बकरे का रक्खा गया। पिता के जन्म की साक्षिता पुत्र नहीं दे सकता। जब अज नाम अग्नि का वेद में सिद्ध है तब इस के अनुसार उक्त मन्त्र का अर्थ यह होगा कि—

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभिनाकमुत्तमम्॥ अथर्व० ४। १४। ६॥

अ०—अहं पयसा रात्र्या सायंकालेन घृतेन [घृ क्षरणदीप्त्योः] दीप्तेन प्रकाशितेन दिनेन प्रातःकालेन चाजं तमसः क्षेप्तारं दिव्यं दि-

वि द्युलोके भवं सुपर्णं शोभनपतनं पयसं ज-
लवर्षकं बृहन्तं महान्तं सूर्यरूपेणावस्थितमग्निं
सूर्योज्योतिरित्यादिमन्त्रैरग्निर्ज्योतिरित्यादिभि-
श्च पार्थिवमग्निमनज्मि प्रकटीकरोमि प्रज्वाल-
यामि वा। तेन नित्यनैमित्तिकेनानुष्ठितेन हो-
मकर्मणोत्तमं नाकमभिउत्तमलोकस्याभिमुखं
स्वरारोहन्तः स्वः सुखविशेषं प्रादुर्भावयन्तो वयं
सुकृतस्य पुण्यकर्मणो लोकं लोक्यं फलं गेष्म
गच्छेम प्राप्नुयाम ॥

पयइति रात्रिनामनिघण्टौ १।७। त-
त्वहश्च पोषयन्तीति पयो यामिनी। रोचतीत्ययुक्त
वाक्यमेवं पयसोदकेन दुग्धेन वाग्निं प्रज्वाल-
यतीत्ययुक्तमेव स्यात्, तेन चाग्नेर्निर्वाणसम्भ-
वस्तस्मादयमेवार्थः साधुः। दिव्यमिति [द्युप्रा-
गपागुदक्प्रतीचो यत्] इति सूत्रेण भवार्थे शैषि-
को यत् प्रत्ययः। उत्तमगुणयुतमिति प्रमाण-

शून्योऽनर्थएव सुपर्णइतिपदं सूर्यस्य चन्द्रमसो वा कुत्रचिद्विशेषणं सर्वत्र वेदेऽस्ति तत्सम्बन्धेन सूर्यकिरणानां वा ग्रहणं नान्यस्य कस्यापि । यः कोऽपि प्रतिजानीतास्त्यन्यस्य विशेषणं स निघण्टौ निरुक्ते च दर्शयेदेतदिति । दिव्यं सुपर्णमितिपदद्वयं न कथमपि बर्करस्य विशेषणं भवितुमर्हति । तस्मादाचार्यकृतोऽर्थः सर्वथाऽज्ञानान्धकारग्रस्तएव ॥

भाषार्थः—मैं (पयसा, घृतेन) अन्धकारमय रात्रि और प्रकाशरूप दिन के आरम्भ में सायं प्रातः काल (दिव्यम्) द्युलोक में रहने वा अपने प्रकाश स्वरूप में अवस्थित तथा (सुपर्णम्) अच्छे प्रकार अपनी परिधि में घूमने वा चलने अथवा होम किये यज्ञ पदार्थों को लेकर शीघ्र उड़ने वा सर्वत्र पहुंचाने वाले (पयसम्) जल वर्षा के हेतु (बृहन्तम्) बड़े महापरिमाण से युक्त सर्वत्र व्याप्त सूर्यरूप से अवस्थित अग्नि को [सूर्यो ज्योति॰] इत्यादि मन्त्रों से और पार्थिव अग्नि को [अग्निर्ज्योति॰] इत्यादि मन्त्रों से (अनज्मि) होम द्वारा संस्कृत वा प्रज्वलित करता हूं (तेन) उस सेवन किये नित्य नैमित्तिक होम कर्म से (उत्तमं नाकमभि) उत्तम दुःखरहित स्थान की ओर चलें और

(स्वारोहन्तः) उत्तम सुख को प्रकट करते हुए हम लोग (सुकृतस्य, लोकम्, गेष्म) सुकृत पुण्य कर्म के दर्शनीय उत्तम फल को प्राप्त होवें इसी अभिप्राय को लेकर ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है कि "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः" स्वर्ग चाहने वाला पुरुष साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र यज्ञ नित्य नियम से किया करे ॥

निघण्टु में पयः नाम रात्रि का है उसी के सम्बन्ध से वा यौगिकार्थ के कारण घृतपद से दिन का ग्रहण किया गया । जैसे अग्नि से सींचता है यह वाक्य अयुक्त है वैसे पय नाम दूध वा जल से अग्नि को प्रज्वलित वा प्रकट करना कहा जाय तो यह भी अयुक्त है क्योंकि दूध वा जल से अग्नि का बुत जाना सम्भव है जलना सम्भव नहीं इस कारण पयः शब्द का रात्रि अर्थ करना ही ठीक है । दिव्य शब्द (द्युप्रागपा०) सूत्र से भव अर्थ में शैषिक यत् प्रत्यय हो कर बना है किन्तु उत्तमगुण वाले यह अर्थ सर्वथा प्रमाणशून्य होने से व्यर्थ है । सुपर्ण शब्द वेद में सूर्य तथा कहीं चन्द्रमा का वाचक है सूर्य के सम्बन्ध से सूर्य की किरणों का नाम भी सुपर्ण है किन्तु अन्य किसी का विशेषण सुपर्ण नहीं हो सकता यदि कोई प्रतिज्ञा करे कि अन्य का विशेषण भी हो सकता है तो वह निघण्टु और निरुक्त में अन्य अर्थ दिखावे । दिव्य और सुपर्ण ये दोनों पद बकरा के विशेषण कदापि नहीं हो सकते इस से आचार्य का किया अर्थ सर्वथा अज्ञानान्धकार से भरा है ॥

इस पूर्वोक्त मन्त्र से आगे (पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलीभि०) इत्यादि दो मन्त्र मांसभोजनविचार तृतीयखण्ड के पृष्ठ ९० से ९९ तक लिखे हैं जिन का अर्थ आचार्यने किया है कि "मांस घी और जल से सिद्ध पञ्चविध विभक्त भात को करछी से निकाल। इस भात को पांच अंगुलियों से पांच प्रकार से विभक्त कर। बकरा का पूर्व दिशा में शिर अर्थात् जो भात शिर के मांसादि सहित पकाया है वह धरो। दक्षिण दिशा में दहिने पार्श्व के मांसादि से पकाये भात को धरो। इस बकरे के जघनमांससिद्ध भात को पश्चिम दिशा में धरो। उत्तर दिशा में दक्षिण से दूसरे भाग के मांस से पकाये भात को और पार्श्व अर्थात् उत्तर कुक्षिस्थ मांस से पकाये भात को धरो। ऊर्ध्व दिशा में बकरे के बंकी वाले स्थान के मांस से सिद्ध भात को धरो। ध्रुवा वा भूमि जो पादतलस्था है अर्थात् अपने पाद के इधर उधर स्थित यद्वा नीचस्थान जो उनमों के बैठने का अपेक्षा से है उस तर्फ में बल के लिये जो अङ्ग उन के मांस से पकाये भात को धरो। बीच से मध्य भाग के मांस से पकाये भात को अवकाश में धरो" यह दो मन्त्रों का अर्थ जैसा संगत है सोतो पाठक लोग जानही लेंगे। तो भी संदेह यह है कि ऐसा कौन करे कब करे? क्या जब २ मांसाहारी लोग मांस खाने को बनावें तब २ ऐसी कवायद किया करें? फिर कोई पूछे कि ऐसा क्यों करें? ऐसा करने से क्या प्रयोजन है? तो क्या उत्तर

होगे ? आचार्य लिखते हैं शिर के मांसादि सहित, सो पाठकगण शोचिये तो सही शिर में कहीं मांस होता है ? शिर में से कोई मांस निकालता है ? तथा शिर के मांसादि यहां आदि शब्द से क्या चरबी हड्डियों का ग्रहण करोगे ? । मुझे निश्चय है कि कसाई लोग भी प्रायः शिर में से खाने को नहीं निकालते । पूर्वदिशा में मांस मिला भात क्यों धरे ? मांस समेत भात ऐसा अर्थ मन्त्र के किस पद से लिया जायगा ? । ऊर्ध्वदिशा और अन्तरिक्ष में मांस युक्त भात को कैसे लटकावे ? कौन लटकावे क्यों लटकावे ? यदि छींके आदि पर लटकावे तो वह आकाश में न हुआ उस का आधार छींका होगा । वैसे तो कहीं धरो सभी अवकाश में होगा । इस प्रकार इन का अर्थ रोम २ संदेहों से भरा है जिस का समाधान जन्मान्तर में भी होना दुस्तर है । हम सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि अज नाम अग्नि का है वह अग्नि अनेकरूप से ब्रह्माण्डभर में व्याप्त है "अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव" यहां ब्रह्माण्ड जगत् भर को अग्नि का साकार पशुरूप मान कर अवयवों की कल्पना समझने के लिये वेद में लिखी है जिस के लिये अथर्ववेद के ही हम दो मन्त्र प्रमाण में लिखते हैं ॥

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योरइयमभवद् द्यौः पृष्ठम् ।

अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥ २० । ऋतं च सत्यं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः । एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः ॥

अथर्व० ९ । ५ । २० । २१

भा०-(अग्ने) सृष्टि के आरम्भ में ही अन्धकार को दूर करने वाला अग्नि सर्वत्र फैला वा व्याप्त हुआ, यह पृथिवी उस अग्नि का उरःस्थल पेट हुई, द्युलोक उस अग्नि का ऊपरी भाग पीठरूप हुआ, अन्तरिक्ष उस के उदर का मध्य भाग हुआ, सब दिशा उस की पार्श्व पसलियों के स्थान में हुईं, समुद्र कुक्षिस्थानी हुआ। मनुष्य शरीर में पसलियों से नीचे कोमलभाग कुक्षि कहाता और मनुष्यों के रहने भूमि के भाग में ही अधिकांश दिशाओं की कल्पना चलती दूरस्थ समुद्र में किन्हीं का निवास न होने से पार्श्वपर्यन्त दिग्विभाग से नीचे समुद्र कुक्षिस्थानी कहा गया है। मन के अनुकूल वाणी से व्यवहार सत्य और शास्त्र की आज्ञा के अनुसार काम करना ऋत दो ये आंखें हुईं अर्थात् प्रत्यक्ष और शास्त्र प्रमाणरूप दो आंखों से संसार भर का सब व्यवहार चल रहा

है इस दशा में अनुमान शाब्दप्रमाण और प्रत्यक्ष का अनुरूप बन जाता है। आकाशरूप निर्मल शुद्ध होने से उस के सभी अङ्ग सत्यस्थानी हैं मिथ्या कुछ नहीं ऋतरूप उस का प्राण है अर्थात् निरन्तर अग्निकरण का धारण करना ही प्राण नाम जीवन का हेतु है और प्रकाशमान अन्धकार तमोगुण रहित सूर्य उस का शिर है। अपरिमित जिस का परिमाण वा माप नहीं हो सकता ऐसा यह यज्ञरूप अग्नि एक पशु के आकार तुल्य है। जैसे यज्ञ में पांच प्रकार का ओदन अर्थात् आर्द्र पदार्थ अग्नि के जलाने को होता अर्थात् घी मिष्ट, पुष्ट, सुगन्धित और रोगनाशक ये पांच प्रकार के ओदन नाम जलाने योग्य वस्तु होते हैं वैसे ही जगत् भर में मुख्य दो पदार्थ हैं एक भक्ष्य द्वितीय भक्षक वा इन्हीं दो का नाम भोग्य भोक्ता है जिन में सर्वत्र अग्नि भक्षक वा भोक्ता तथा शुष्क छेदक है और भक्ष्य सर्वत्र जलसम्बद्ध आर्द्र होने से ओदन तथा छेद्य है। यह पांच प्रकार का ओदन अग्नि का भक्ष्य है। इस ओदन का विशेष व्याख्यान इस अथर्व के ११ काण्ड के द्वितीयानुवाक में विस्तरपूर्वक है उस की महिमा यहां लिखने लगें तो दश बीश पृष्ठ भर वही लेख चला जाय प्रकरण छूट जाय इस से यथावसर ओदन का व्याख्यान फिर कभी लिखेंगे। इस प्रकार वेद में अज नामक अग्नि के अवयवों को दिग्भेद से सुगम बोधार्थ कल्पना दिखायी है इसी के अनुसार उक्त दो मन्त्रों का अर्थ जानो यथा—

पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्यो-
द्धर पञ्चधैतमोदनम् । प्राच्यां दि-
शि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां
दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥
प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्यु-
त्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् ।
ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूकं धेहि
दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यम् ।
अन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥
अथर्व ४ । १४ । ७ । ८ ॥

अर्थः—"एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः प-
ञ्चौदनः । अथर्व० ९ । ५ । २१,, इत्यत्र म-
न्त्रेऽवधारणार्थवैशब्दपाठादवश्यमेव विपश्चिद्भि-
र्यदपरिमितो व्याप्त एव कश्चिद्यज्ञः पूज्यः प्रशं-
साहोंऽजपञ्चौदनपदयोर्वाच्योऽर्थो मन्त्रकारस्या-
भिप्रेतइति स च तत्रैव प्रकरणे सप्तदशमन्त्रे-

ऽग्निः स्पष्टमुक्तएवास्ति । तथा च यजुष्यप्युक्त-
मेव "अग्निः पशुराशीत्तेनायजन्त० । वायुः प-
शुरासीत्तेनायजन्त० । सूर्यः पशुरासीत्तेनायज-
न्त० । अ० २३ । १७ । " एतेन स्पष्टमेवा-
ग्न्यादीनां पशुत्वेन कल्पनं तस्य चाग्न्यादेरव-
यवकल्पनं च मन्त्रेषु सुगमतया बोधार्थमिति
वेदप्रमाणेनैव स्पष्टीभवति । एवं च सत्यग्निरत्र
मन्त्रेषु पश्वाकारेणोच्यते । तद्यथा हे परमात्मन्
पञ्चधा पञ्चप्रकारेण विभक्तमेतं प्रत्यक्षं पञ्चत-
त्त्वात्मकमोदनं क्लिन्नं भक्ष्यत्वमापन्नं पञ्चौदनं
पञ्चीकरणेनेतरेतरं संसृष्टम् । पञ्चभिः पञ्चीकृ-
तैरश्मिभिः सह वर्त्तमानयादर्व्या तैजसविदारण
शक्त्या निदाघर्त्तुरूपयोन्द्वरोपरिष्टादूर्ध्वं नय । ए-
तत्कार्यसिद्धये च-प्राच्यां दिश्यजस्यान्धकारस्य
प्रक्षेप्तुः सूर्याग्नेः शिरो धेहि । यत्र प्रकाशकस्या-
ग्नेः प्रधानाङ्गं शिरः सा प्राची दिग्भवतु । दक्षि-
णायां दिशि दक्षिणं पार्श्वमजस्य धेहि । यथा पूर्वा-
भिमुखस्य तिष्ठतः पशोर्दक्षिणं पार्श्वं दक्षिणदिश्येव

भवति। प्रतीच्यां दिश्यस्याजस्य भसदमन्धकार-भर्त्सनसामर्थ्यं धेहि। सति पूर्वस्यामुदये पश्चात्पश्चादेवान्धकारो भर्त्स्यते प्रक्षिप्यते। उत्तरस्यां दिश्युत्तरपार्श्वरक्षणं च न्यायसिद्धमेव धृतं भवति। ऊर्ध्वायां दिशि चाजस्याग्नेरनूकः समवायिकारणमीश्वरेण निहितम्। तस्मादेवाग्नि रूर्ध्वज्वलनः प्रसिद्धः अनूकइत्यस्य—"उच" समवायइति धातोर्व्युत्पादात्। ध्रुवायामधःस्थायां दिश्यस्य पाजस्यं पाजसेऽन्नाय भक्ष्याय हितमन्ने पाजसि साधु वाङ्गं पृथिव्यामोषध्यादिषु धेहि, गर्भोअस्योषधीनामित्युक्तत्वात्। पृथिव्यां मनुष्यादिशरीरे व्याप्तएवाग्निः सर्वं भक्षयति। अस्याजस्य सूर्याग्नेर्मध्यभागो ब्रह्माण्डस्य मध्यतोऽन्तरिक्षे धेहि॥

भा०—यथा च सूत्रेषु लिङ्गवचनमतन्त्रमेवं पुरुषवचनादिव्यत्ययं दर्शयता वेदेऽपि वचनपुरुषकालादिकथनमतन्त्रमेव सूचितम्। तेनोद्धर धेहीत्यादिक्रियापदं न मध्यमे निबद्धमिति।

परमेश्वरेण सर्गारम्भएव सर्वव्याप्तोग्निः सृष्ट-स्तस्य प्रधानाङ्गं शिरः पूर्वस्यां दिशि रक्षितम् । यथा मनुष्यादिप्राणिनां शिरोदेशे यादृशो ज्ञान-प्रकाशो न तादृशोऽन्यदेहावयवेष्वस्ति तथैवा-त्राग्नेः शिरोदेशरूपसूर्यस्य पूर्वस्यामेव प्रधानः प्रकाशः । एवं चप्राधान्यमाश्रित्यैव प्राचीदिग-ग्निरधिपतिरिति मन्त्रेऽग्नेरधिपतित्वमुक्तम् । द-क्षिणस्यां दिशि चाग्नेर्द्वितीयकक्षास्थं प्राबल्य-मर्थात्पश्चिमोत्तरापेक्षया दक्षिणदिक्प्रान्तेष्वग्ने-रुष्माधिक्यं तेन लङ्कादिप्रान्ते मनुष्यादिषु कार्ष्ण्याधिक्यस्य प्रत्यक्षदर्शनात् । यत्र यत्र यादृशं शीताधिक्यं तत्र तत्र तादृशमेवाग्नेरु-ष्मणो न्यूनत्वं सर्वापेक्षयोत्तरकुरुषु शीताधिक्य मुष्मणश्च ह्रासस्तस्मादेव तत्रत्या मनुष्याः स-र्वापेक्षयाऽप्याधिक्येन गौराः । तदपेक्षया कम्बो-जकापिशीगन्धारादिपश्चिमप्रान्तेषु शीतह्रास उ-ष्माधिक्यं चातएव कापिशायनादयो द्वितीयक-क्षायां गौरास्तदपेक्षयापि दक्षिणप्रान्तेषु शीतह्रास

उष्माधिक्यं चातएव तत्रत्या दाक्षिणात्यास्तृती-
यकक्षायां गौरास्तदपेक्षयाऽग्न्याधिक्येन पूर्वप्रान्तेषु
शीतह्रासोऽग्नेरुष्मणश्चात्यन्तमेवाधिक्यम तएव
प्रायेण बाङ्गा ब्राह्मा वा कृष्णा दृश्यन्ते कृष्णाश्च स्व-
तुल्यां कालीमेव प्रायेण पूजयन्ति । एतेन प्रत्यक्षे-
णाऽपि जगति चतुर्दिक्षु चतुर्विधाऽग्नेर्व्याप्तिः स्फु-
टैव दृश्यते । दक्षिणस्यां दिशि द्वितीयाऽग्नेः कक्षा
तस्यैवेन्द्रइति नामास्ति अतएव "दक्षिणा दि-
गिन्द्रोऽधिपतिरिति" मन्त्रान्तरउक्तम् । प्रतीच्यां
च दिशि तृतीयकक्षास्थोऽग्निस्तस्मादेव तत्र व-
रुणस्य प्राधान्यमतएव पश्चिमतः पूर्वाभिमुखाः
प्रायेण नद्यो वहन्ति यत्र वरुणस्याधिक्यं तत
एवागमनसम्भवादतएव मन्त्रान्तरउक्तम् " प्र-
तीची दिग्वरुणोऽधिपतिरिति " उदीच्यां तु
दिशि चतुर्थकक्षास्थोऽग्निरतएव दक्षिणायने सूर्ये
षण्मासावधि कस्मिंश्चिदुत्तरप्रदेशे तमःप्रधाना
रात्रिरेव तिष्ठति तत्र चाग्नेरप्राधान्यादेव सो-
मस्य प्राधान्यं तस्मादेव प्रायेण तत्रत्याश्चन्द्र-

मुखा जायन्तेऽतएव च मन्त्रान्तरमुक्तम्—"उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः" अनेनैव च क्रमेण विवाहादिमङ्गलकार्येषु परिक्रमाः कर्त्तुं वेदाशयादेव प्रचरिताः। दिवादिलोके चाग्नेः समवायिकारणमीश्वरेण रक्षितं तदेवानूकपदवाच्यम्। एतदभिप्रेत्यैव महाभाष्यकारेणोक्तम् "तथा ज्योतिषो विकारोऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितं नैव तिर्य्यग्गच्छति नार्वागवरोहति ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यतः।" स्थानेन्तरतम इत्यस्योपरिकथनमिदम्। अधोदेशे पृथिव्यां चाग्नेरन्ननिष्पादिका शक्तिरीश्वरेण धृताऽतएव पृथिव्यां सर्वमनुष्यादीनां भक्ष्यमुत्पद्यते। ब्रह्माण्डस्य मध्यस्थेऽन्तरिक्षे चास्याग्नेर्मध्यमा शक्ती रचिता तस्मादेव मध्यमे ब्रह्मावर्त्तादिप्रदेशे शीतोष्णादीनां प्रायेण साम्यान्मध्यवर्णा मनुष्या दृश्यन्ते शीतोष्णादितारतम्यव्यवस्थापनाय प्राच्यादिदिशां कल्पनमुष्णशीतयोर्यत्र सर्वापेक्षयाऽऽधिक्येन समाना प्रवृत्तिर्दृश्येत ततएव न्याय्या

दिक्कल्पना तस्मैतत्कथयता "अन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य,, सूचितम्। ब्रह्मावर्त्ते च सर्वापेक्षया शीतोष्णसाम्यं प्रतीयते स्वभावेन सर्गारम्भादेव यथा जगत्यग्निर्व्याप्तस्तथैवात्रावयवकल्पनयास्वाभाविकी व्याप्तिर्मन्त्रद्वयेन प्रदर्शिता बोध्या। अनेन चायमप्याशयो निस्सार्य्य एवास्ति यथेश्वरेण पञ्चतत्त्वात्मकं सर्वं समस्तं व्यस्तं च निर्मितं तस्मिन्नेवैकोऽग्निर्भक्षकः कृतस्तत्र स्वभावेनैवाग्नौ सर्वं हूयते। व्याप्तेनाग्निनैव च सर्वं प्रकारान्तरापन्नं दृश्यते। भुक्तं पक्वमन्नं जाठराग्निना पुनः पच्यमानं दृश्यते, ओषधिफलानि चोष्मणैव पच्यन्ते। सूपौदनशाकादींश्च मनुष्या अग्निनैव पक्त्वा भुञ्जते पृथिव्यां पतितं च तृणादिकं पार्थिवाग्निनैव प्रकारान्तरमापद्यते। एवं सर्वत्रैव पञ्चतत्त्वात्मके जगत्यग्निर्भक्षकोऽन्यच्च सर्वं भक्ष्यं भक्षणस्य च प्रकारान्तरापत्तिप्रयोजनप्राधान्यादवगन्तव्यमिदमित्थमिति। तथा स्वभावेनैवाग्निर्भोक्ताऽन्याच्च भो-

ज्यं सर्वं निर्मितं यथा सति पित्तप्राबल्ये भोजनकामादिकाः सर्वाः शरीरस्था भोक्तृशक्तय आविर्भूता दृश्यन्ते मान्द्ये च पित्तस्य न किमपि भोक्तुं शक्नोत्येवं सर्वत्रैवाग्निर्भोक्ताऽस्ति सूर्याग्निः स्वकिरणरूपहस्तैः पृथिवीस्थमुदकादिकं प्रत्यहं भुङ्क्ते तेन सर्वं शुष्यति। तस्मादेव पाञ्चभौतिकं घृतमिष्टादिपञ्चविधं हव्यद्रव्यं पञ्चीकृतैः सूर्यरश्मिभिरिव पञ्चभिः स्वहस्ताङ्गुलिभिर्दर्वीमादाय स्थाल्यां पक्तव्यं पक्वं च तथैव निस्सार्यं स च पञ्चविध ओदनोऽग्नेर्भक्ष्योऽग्नौ होतव्यएतच्च ध्येय यथायथा पूर्वादिदिक्षु परमेश्वरेण याहृश्यग्न्यादिदेवतानां स्थितीरक्षिता तथैव ममापि हव्यं तारतम्येन तस्यैतस्यै देवतायै यथास्वं प्राप्नोतु तेन च पूर्वादिस्थाग्निना तथैव मम सुखं वर्द्धतामित्याशयेन स्वभावप्राप्तो होमः कार्यएव ये च स्वाभाविकभोक्तृभोग्यादिविचारं वेदसिद्धान्तं तिरस्कृत्य स्वस्य जाठराग्निमेव भोक्तारं मत्वा भुञ्जते यज्ञांश्च त्यजन्ति तेषां प्राणानेव कुपिता अग्नयोऽत्तुमिच्छन्ति। यथा दु-

गन्धादिना कुपितो वायुः प्रबलरोगादिशस्त्रैर्हन्तुं प्रवर्त्तते तच्च महदनिष्टम् । तस्मादनिष्टं जिहासुभिरिष्टमीप्सुभिश्च मनुष्यैर्वेदोक्तो यज्ञः कार्य इत्यतिसमासेन मन्त्रद्वयस्य तात्पर्यं बोध्यम् ॥

भाषार्थः—इस से पूर्व (एष वा०) यह मन्त्र लिख चुके हैं जिस का स्पष्ट अक्षरार्थ यह है कि " यही अपरिमित—असीम व्याप्त यज्ञ है जो अज नामक पञ्चौदन है" इस मन्त्र में निश्चयार्थ वैशब्द के पढ़ने से विचारशीलों को यह ठीक सत्य मान लेना चाहिये कि अज और पञ्चौदन का व्याप्त अपरिमित यज्ञ नाम पूजनीय प्रशंसा के योग्य कोई वाच्यार्थ वस्तु लेना मन्त्रकार ईश्वर को भी अवश्य इष्ट है। और वह अजपञ्चौदन शब्द का वाच्यार्थ उसी (अथर्व-९ । ५ । १७) में स्पष्ट ही अग्नि कहा है । क्योंकि वहां १६ और १८ दोनों पूर्व पर मन्त्रों में अज का वर्णन है केवल १७ वें मन्त्र में अग्नि शब्द से वर्णन किया है । तथा अथर्ववेद काण्ड ९ के पांचवें अनुवाक के आरम्भ से अन्त तक केवल प्रकरणबद्ध अज का वर्णन ३८ अड़तीसों मन्त्रों में बराबर चला गया है इस कारण इसी अथर्व के प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध है कि अजपञ्चौदन का वाच्यार्थ सर्वव्याप्त अग्नि है। तथा यजु० अ० २३ मं० १७ में और भी स्पष्ट लिखा है कि (अग्निः पशु०) अग्नि पशु है उस से यज्ञ करते वायु पशु है उस से यज्ञ करते और सूर्य पशु है उस से यज्ञ करते हैं

अर्थात् अग्नि आदि तीन देवता वेद में प्रधान हैं जहां २ वेद में अज वा अश्व आदि पशु वाचक शब्दों से यज्ञ करना कहा है वहां २ अग्नि आदि को पशुरूप मानना चाहिये और उन्हीं के अङ्गों की कल्पना ब्रह्माण्ड भर में कर लेनी चाहिये जिस से ब्रह्माण्डभर में अग्नि आदि पशु व्याप्त हो कर किस २ अंश से क्या २ काम कर रहे हैं ऐसी ऐसी पशुरूप कल्पना से सब ब्रह्माण्ड का हाल विद्या सम्बन्धी शीघ्र समझ में आसकता इत्यादि विचार के अनुसार पूर्वोक्त दो मन्त्रों में पशुरूप से अग्नि का वर्णन कहा है-जैसे-

हे परमात्मन्! (पञ्चधौदनम्) पृथिव्यादि पांच नाम वा प्रकारों से भिन्न २ विभक्त इस प्रत्यक्ष पञ्चतत्त्वरूप ओदन नाम जल के सम्बन्ध वा व्याप्ति से गीले भक्ष्य दशा को प्राप्त वस्तुमात्र कि जो (पञ्चौदनम्) सब का सब में प्रवेश होने से प्रत्येक पञ्चीकरण को प्राप्त [अर्थात् पञ्चीकरण उस को कहते हैं जैसा कि महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म भृगुभरद्वाजसंवाद प्रकरण में लिखा है-

त्वक् च मांसं तथाऽस्थीनि मज्जा स्नायुश्च पञ्चमम्। इत्येतदिह संघातं शरीरे पृथिवीमयम् ॥१॥ तेजो ह्यग्निस्तथा क्रोधश्चक्षुरूष्मा तथैव च। अग्निर्जरयते यच्च पञ्चाग्नेयाः शरीरिणः ॥ २ ॥ श्रोत्रं घ्राणं तथाऽऽस्यं च हृदयं कोष्ठमेव च। आकाशात्प्राणिनामेते शरीरे पञ्च धातवः ॥ ३ ॥

श्लेष्मा पित्तमथ स्वेदो वसा शोणितमेव च ।
इत्यापः पञ्चधा देहे भवन्ति प्राणिनां सदा ॥४॥
प्राणात्प्राणयते प्राणी व्यानाद्व्यायच्छते तथा ।
गच्छत्यपानोऽधश्चैव समानो हृद्यवस्थितः ॥५॥
उदानादुच्छ्वसिति च प्रतिभेदाच्च भाषते । इ-
त्येते वायवः पञ्च चेष्टयन्तीह देहिनम् ॥ ६ ॥

यद्यपि मनुष्य का शरीर पृथिवी तत्त्व प्रधान होने से पार्थिव माना जाता है तथापि पांचो तत्त्व पांच २ प्रकार से शरीर में रहकर सब काम दे रहे हैं॥ त्वचा, मांस, हड्डी मज्जा और नसें ये पांचों पृथिवीप्रधान पांच अंश प्रत्येक शरीर में हैं । तथा शरीर में जो कान्ति चमक प्रतीत होती, क्रोध उठता, चक्षु की ज्योति, गर्मी जो छूने से ज्ञात होती और उदर में खाया पिया जिस के द्वारा पचता है यह पांच प्रकार से अग्नि प्रत्येक शरीर में व्याप्त होकर काम दे रहा है । कान, नासिका, मुख, हृदय, और आमाशय पक्काशय आदि जो कोठा के समान बने हुए हैं इन सब में भीतर अवकाश पोल होने और बाहर को छिद्र होने से ही ये पांचों आकाश रूप से शरीर का काम दे रहे हैं । तथा श्लेष्मा नाम कफ, पित्त जो पीला २ पानी कभी वमन द्वारा निकलता है, स्वेद-पसीना, वसा, और लोहू ये

जल, पांच प्रकार से शरीर का धारण करते हैं। तथा जिस से ऊपर को चेष्टा करते और जीवित रहते हैं वह प्राण तथा व्यान से हाथ पांव आदि को फैला सकते, नीचे को क्रिया वा मूत्र मलस्राव आदि जिस से होता वह अपान और जिस से ठहरता वा उठ जाता गिरने आदि से गिरते २ बच जाता है बीच में ठहर सकता वा कुम्भक प्राणायाम कर सकता है वह समान और जिस से ऊपर को श्वास लेता तथा बोल सकता है वह उदान कहाता है इन पांच रूपों से वायु शरीर में चेष्टा कराता है। ये पांचो तत्व शरीरादि प्रत्येक पदार्थ में पांच २ प्रकार से व्याप्त होकर सब संसार को २५ पच्चीस प्रकारों से चलाते वा स्वयं सब पचंपचीस हो जाते हैं। चाहे यों कहो कि पार्थिव आकाश पार्थिव वायु पार्थिव अग्नि, पार्थिव जल और स्वयं पृथिवी जैसे यह पांच प्रकार की पृथिवी है वैसे ही शुद्ध आकाश में पार्थिव आप्य, तैजस परमाणु रहते वायु तो मुख्य कर आकाश में रहता ही है इस से आकाश भी पांच प्रकार का होता ऐसे ही अन्य वायु आदि भी पांच २ प्रकार के हो जाते हैं यही पञ्चीकरण कहाता है] पच्चीस प्रकार के परस्पर मिले हुए पञ्च तत्वरूप पञ्चौदन को (पञ्चभिरङ्गुलीभिः) उस २ पार्थिवादि पदार्थ में पञ्चीकरण को प्राप्त पांच प्रकार की अग्नि की तेजरूप किरणों के साथ में वर्त्तमान (दर्व्या) विदीर्ण करने वाली तैजस शक्ति जो ग्रीष्म ऋतु विशेष वा सामान्य

मध्याह्न की उष्णता है उससे (सह्वुर) ऊपर को जलादि पहुंचा तथा वर्षा कराके उद्धार करे । इस कार्य की यथोचित सिद्धि के लिये (प्राच्यां दिशि शिरोऽजस्य धेहि) अन्धकार को फेंकने वा हटाने वाले अजनामक सूर्याग्नि का शिर नाम प्रधानांश प्रधानशक्ति पूर्वदिशा में धारण कर अर्थात् जहां प्रकाशक सूर्याग्नि की शक्ति प्रधानता से रहती वह पूर्वदिशा हो ता है और (दक्षिणायां दिशि दक्षिणं पार्श्वं धेहि) दक्षिणदिशा में उस अग्नि का दक्षिण पार्श्व अर्थात् द्वितीय कक्षा की शक्ति धारण कर जैसे पूर्व को मुख करके खड़े हुए पशु आदि का दहिना पार्श्व दक्षिण दिशा में होता ही है (प्रतीच्यां दिश्यस्य भसदं धेहि) पश्चिम दिशा में इस अग्नि के अन्धकार को फेंकने के सामर्थ्य को धारण कीजिये जैसे पूर्वाभिमुख पशु पूंछ द्वारा पश्चिम में अपने प्रतिकूल को झाड़ता फेंकता वा गोबर आदि अनिष्ट मल को पश्चिम में निकालता वैसे अग्नि का मुखरूप सूर्य पूर्व में उदित हुआ अपने किरणरूप पूंछ से अन्धकार को पश्चिम की ओर बराबर फेंकता जाता है [स्मरण रहे कि यह भसद् शब्द लोक में गुदाइन्द्रिय का वाचक माना जाता है और मांसभोजनविचाराचार्य ने लिखा है कि" (भसदम्) जघनमांस सिद्धभात को" भस भर्त्सने धातु से यह शब्द बनता है जिस का सामान्यार्थ यही है कि जिस के द्वारा अनिष्टमल अन्धकारादि को निकाला दूर किया जाय फेंक दिया

जाय । इस वेदानुकूल सामान्य यौगिकार्थ से गुद का नाम भी बन सकता है क्योंकि उस इन्द्रिय के द्वारा अनिष्ट मल निकाल दिया जाता है और सोचने से यह भी प्रतीत होता है कि ऐसे हीं वेद में कहे मलद् शब्द के अर्थ को समझ कर पाणिनिआचार्यने मद मर्दने धातु की कल्पना की होगी इस को पाठक लोग सोचलें कि कौन अर्थ अच्छा है] (उत्तरस्यां दिश्युत्तरं पार्श्वं धेहि) तथा उत्तर दिशा में अज-नामक अग्नि का वाम भाग वा चौथी कक्षा का सामर्थ्य रखिये । और न्यायानुकूल भी पूर्वाभिमुख मनुष्यादि का उत्तर में वाम भाग रहता ही है [इस का विचार प्रत्येक मनुष्य के शरीर में किया जाय तो मनुष्य अपने सन्मुख भाग को प्रथमकक्षा में दहिने भाग को द्वितीयकक्षा में तथा पीठ के भाग को तृतीय कक्षा में और वाम भाग को चतुर्थकक्षा में मानता ही है अर्थात् जब ऊपर से नीचे को चलें तो मुख को सर्वोत्तम और पगों को सब से निकृष्ट शरीर का भाग प्रत्येक मानता है पर यदि बैठी परिक्रमा दशा को विचार के देखें तो पूर्वोक्त प्रकार उत्तम मध्यम निकृष्ट माना जाता है । प्रत्येक मनुष्य बांये हाथ से मल मूत्रादि धोता है इस से वाम हाथ शरीर के मध्य भाग में सब से निकृष्ट माना जाता है इसी लिये मानवधर्मशास्त्र में लिखा है कि अग्निहोत्रादि यज्ञों में श्रेष्ठ ब्राह्मणों तथा पूज्य गुरु आदि के सामने और राजसभादि में दहिने हाथ से काम लेवे बायें हाथ से कोई

संकेत करने से भी श्रेष्ठ काम वा मान्य पुरुषों का अनादर होता है इस से सिद्ध है कि ऐसी दशा में प्रत्येक वस्तु का वाम भाग चौथीकक्षा में है (ऊर्ध्वायां दिश्यग्नस्यानूकं धेहि) ऊपर की दिशा में अग्ननामक अग्नि का अनूक नाम उपादान [समवायि] कारण को धारण कीजिये अर्थात् ऊपर द्युलोक में परमेश्वर ने अग्नि का उपादान कारण रक्खा है इसी से अग्नि की ज्योति ऊपर को ही जलती और अग्नि ऊर्ध्वज्वलन कहाता है । और " उच समवाये " धातु से अनूक शब्द बनता है वा यों कहो कि अनूकादि वेद के शब्दार्थों को समझ कर ही पाणिनिने उच समवाये धातु की कल्पना की है (ध्रुवायां दिशि पाजस्यं धेहि) ध्रुव नाम नीचे पृथिवी सम्बन्धिनी दिशा में अग्नि की पाजस् नाम अन्न को उत्पन्न करने की शक्ति को धारण करिये वा ईश्वर ने पृथिवीस्थ ओषध्यादि में अन्नोत्पत्ति के लिये अग्नि को स्थापित किया है। सो वेद के मन्त्र में अन्यत्र स्पष्ट लिखा भी है कि (गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्०) अग्नि ओषधि वनस्पत्यादि का गर्भ नाम उन में व्याप्त है । पृथिवी और मनुष्यादि के शरीरों में व्याप्त हुआ ही अग्नि सब का भक्षण करता और पकाता है (अस्य मध्यं मध्यतोऽन्तरिक्षे धेहि) इस अन्धकार को दूर करने वाले सूर्याग्नि का मध्यभाग ब्रह्माण्ड के मध्य अन्तरिक्ष में धारण कीजिये ॥

भा०—जैसे व्याकरण के सूत्रों में लिङ्ग वचन जो पढ़े हैं वे ठीक नियत नहीं माने जाते किन्तु प्रकरण तथा ग्रन्थ की ठीक संगति लगाने के लिये यथोचित लिङ्गवचनादि का परिवर्त्तन कर लिया जाता है वैसे ही (व्यत्ययो बहुलम्) सूत्र से पुरुष तथा वचनादि का व्यत्यय दिखाते हुए पाणिनि ने वेद में भी पुरुषादि का व्यत्यय स्पष्ट सूचित किया है। तदनुसार यहां "धेहि" इस क्रियापद को मध्यम पुरुष में बहु मत समझो किन्तु परमेश्वर ने अग्नि का प्रधानाङ्ग पूर्व दिशा में सृष्टि के आरम्भ से ही धारण किया धारण करता है वा धारण करेगा इत्यादि सभी अर्थ ठीक संघटित हो सकता है। परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में सर्वव्याप्त अग्नि रचा और उस का प्रधानांश पूर्व दिशा में रक्खा। जैसे मनुष्यादि प्राणियों के शिर में जितना वा जैसा ज्ञान का प्रकाश होता है वैसा शरीर के अन्य अवयवों में नहीं इसी से शिर के किसी चक्षु आदि भाग में पीड़ा वा चोट अधिक व्यापती उतनी पीड़ा वा चोट अन्य गोड़े आदि में लगे तो वैसा वा उतना कष्ट नहीं होता और दुःख प्रतीत होने के लिये भी शिर में ही सब से अधिक सामान प्रत्यक्ष विद्यमान है। वैसे ही इस जगत् भर में अग्नि के शिर रूप सूर्य का प्रधान प्रकाश पूर्व दिशा में सदा स्थित रहता है। इसी प्रधानता को मान कर (प्राची दिगग्निरधिपतिः०) इस अथर्व के अन्य मन्त्र में पूर्वदिशा का अ-

थिवति अग्नि को कहा है। दक्षिण दिशा में अग्नि की द्वितीयकक्षा की प्रबलता ईश्वर ने रक्खी है इसी कारण पश्चिम और उत्तर दिशाओं की अपेक्षा दक्षिण प्रान्तों में अग्नि की ऊष्मा अधिक है। इसी से लङ्कादि देशों में मनुष्यादि अधिक काले होते प्रत्यक्ष दीखते हैं। जहां २ जितनी शीत की अधिकता होती वहां २ वैसी ही न्यून २ गर्मी होती है। सब की अपेक्षा उत्तरकुरु नाम युरोप वा रूस आदि के किन्हीं भागों में जो भारतवर्ष से उत्तर में पड़ते हैं उन में शीत की अधिकता और सर्वोपरि गर्मी की न्यूनता है इसी से वहां के निवासी सब की अपेक्षा अत्यन्त गोरे होते हैं। और काबुल कन्धारादि पश्चिम प्रान्तों में उत्तर की अपेक्षा शीत न्यून होता और गर्मी अधिक होती इसी से काबुली आदि मनुष्य द्वितीयकक्षा में गोर होते हैं। वा इस विचार को जब हम केवल आर्यावर्त्त में फैला कर देखें तो उत्तर के पहाड़ी सब से अधिक गोरे उन से नीचे द्वितीयकक्षा में पञ्जाबी और तृतीयकक्षा में मुम्बई प्रान्त के दक्षिणी गोरे और बंगाली सब से अधिक काले होते हैं क्योंकि पश्चिम दक्षिण प्रान्तों में शीत न्यून और उष्णता अधिक है और उस से भी पूर्व प्रान्तों में शीत की न्यूनता और गर्मी की अधिकता है इसी से बंगाले के मनुष्यों में कालापन अधिक है और वहां के निवासी अधिकांश काले होने से ही अपने तुल्य काले वस्तुओं का सेवन करते और काला वर्ण उत्पन्न

जाने वाले शाक भाजी आदि को स्वभाव से ही अधिक खाते हैं। इत्यादि प्रत्यक्ष विचार के देखने से भी वेद में कहे अनुसार चारों दिशाओं में अग्नि की चार प्रकार की व्याप्ति स्पष्ट दीखती है। दक्षिण दिशा में अग्नि की द्वितीयकक्षा है उसी का नाम इन्द्र है जो साक्षात् प्रसिद्ध अग्नि की अपेक्षा गुप्तता विद्युत् नाम से सर्वत्र व्याप्त अग्नि है। दक्षिण में उस की प्रधानता होने से ही अथर्व के (दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिः) इस मन्त्र में दक्षिण का अधिपति इन्द्र कहा गया है। तथा पश्चिम दिशा में तीसरीकक्षा का अग्नि है और दो अंशों में जल की अधिकता वा प्रधानता है इसी कारण पश्चिम से पूर्व को अधिकांश नदियां निकल २ कर वहती हैं क्योंकि पश्चिम में जल की खानें हैं। वहीं से निरन्तर जल निकलने पर भी चुकता नहीं जल की खानों का ही नाम वरुण वा वरुण-लोक है इसी लिये इस अथर्व के (प्रतीची दिग्वरुणोऽधिप-तिः) इस अन्य मन्त्र में पश्चिम दिशा का अधिपति वरुण कहा गया है। तथा उत्तरदिशा में चौथी कक्षा का अग्नि है इसी से सूर्य के दक्षिणायन होने पर उत्तर के किसी २ प्रदेश में छः महिनों तक रात्रि ही रहती है और उत्तरा-यण में छः महिनों तक दिन रहता है इसी को दैव अहोरात्र कहते हैं। और वहां अग्नि की अप्रधानता होने से ही सोमशक्ति की तिगुणी अधिक प्रधानता रहती वा होती है इसी से वहां के स्त्री पुरुषादि प्रायः चन्द्रमुख होते हैं इसी

लिये अथर्व के इस (उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः) मन्त्र में उत्तर दिशा का अधिपति सोम को कहा है । और विवाहादि मङ्गल कार्यों में इसी क्रम से परिक्रमा करने का प्रचार लोक में वेद का आशय लेकर प्रचरित हुआ है । इस से अग्नि की परिक्रमा करते समय यह अभिप्राय रक्खा जाता वा रखना चाहिये कि हम उन २ दिशाओं से अग्नि आदि देवताओं के तन २ वा वैसे २ शुद्ध अंशों द्वारा वैसी २ अपनी सुखोन्नति चाहते हैं वेदोक्त सब देवताओं में अग्नि प्रधान है इस कारण पूर्व दक्षिणादि क्रम से परिक्रमा की जाती है । और दिव् लोक में परमेश्वर ने अग्नि का समवायिकारण वा उपादान कारण नियत वा स्थापित किया है उसी उपादान का नाम अनूक है । इसी अभिप्राय को लेकर व्याकरण महाभाष्यकार ने (स्थानेऽन्तरतमः) सूत्र पर लिखा है कि "द्युलोकस्य ज्योति नाम तेज का विकार पार्थिव अग्नि की ज्वाला है, जहां वायु न चलता हो ऐसे अवकाश में जलते हुए उस अग्नि की ज्वाला तिर्छी वा नीचे को नहीं चलती किन्तु द्युलोकस्य अग्निज्योति का विकार नाम कार्य होने से ऊपर को ही उठती है क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही अपने उपादान कारण की ओर आकर्षित होता है । उपादान उपादेय का सदा आन्तर्य सम्बन्ध रहता है [हमारे पाठकों को ध्यान होगा कि मांसोपदेशक जी ने इसी अनूक शब्द का अर्थ -वंक्षी वाले स्थान

के मांस से विरुद्ध भात को० किया है जिस में कोई प्रमाण नहीं] और नीचे पृथिवीरूप अधोदिशा में अग्नि की अन्नोत्पादिका शक्ति नियत की है इसी लिये पृथिवी में सब मनुष्य पश्वादि प्राणियों का भक्ष्य उत्पन्न होता है । इसी अन्नोत्पादक अग्नि के सामर्थ्य का नाम मन्त्र में पाजस्य है। तथा ब्रह्माण्ड के मध्यस्थ अन्तरिक्ष में अग्नि का मध्यम सामर्थ्य रक्खा है चाहे यों कहो वा मानो कि ब्रह्माण्ड के जिस प्रदेश में शीतोष्ण की समता है वही मध्य अन्तरिक्ष है । और इसीं प्रकार पृथिवी के जिस प्रदेश में शीतोष्ण की अधिक समता हो वह पृथिवी का भी प्रदेश अग्नि का मध्यस्थान माना जायगा इस लिये वहीं से पूर्वादि दिशाओं की कल्पना का आरम्भ किया जायगा वैसे भारतवर्ष के ब्रह्मावर्त्त नामक प्रदेश में शीतोष्ण की अधिकांश समता दीखती है क्योंकि यहां की अपेक्षा पृथिवी के अन्य सब प्रान्तों में कहीं शीत कहीं उष्णता अधिक है इसी से ब्रह्मावर्त्त के निवासी मनुष्यादि प्रायः मध्यम वर्ण वाले होते हैं इस लिये पृथिवी पर पूर्वादि दिशाओं की कल्पना सदा ब्रह्मावर्त्त से करनी चाहिये यह अभिप्राय (अन्तरिक्षे मध्यतो०) इत्यादि कथन से जताया गया है । सृष्टि के आरम्भ से ही स्वभाव के साथ जगत् में जिस प्रकार अग्नि व्याप्त हुआ है वैसी ही यहां अवयवकल्पना के साथ स्वाभाविक अग्नि की व्याप्ति दो मन्त्रों से सब दिशाओं में दिखायी है॥

और इन मन्त्रों में किये गये व्याख्यान से यह भी आशय अवश्य ही निकालना मानना और स्वीकार करना चाहिये कि जैसे पञ्चतत्त्वात्मक सब वस्तु परमेश्वर ने परस्पर मिला हुआ तथा भिन्न २ बनाया है उस सब में एक अग्नि सर्वत्र भक्षक किया है। उस अग्नि में स्वभाव से ही सब कुछ भस्म होता है। सर्वत्र व्याप्त अग्नि से ही सब पदार्थों का रूपान्तर होता दीखता है। जैसे ओषधियों का दाना रूप अन्न सूर्य वा पार्थिव अग्नि से ही पकता पश्चात् दाल भात शाक आटादि को भी प्रत्यक्ष अग्नि से ही मनुष्य पकाते नाम प्रकारान्तर का बनाते और पकाया अन्न खाने पर भी फिर पेट के जाठराग्नि से ही पकता है पृथिवी में गिरे मनुष्यादि के शरीरादि वा घासतृणादि सब पार्थिव वस्तु अग्नि से ही रूपान्तर को प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि रूपान्तर बनना ही खाना है होम यज्ञ द्वारा भी अग्नि ही सब घृतादि पदार्थों का रूपान्तर शीघ्र कर देता वा खाजाता है इस प्रकार सब पञ्चतत्त्व से बने संसार में एक अग्नि ही सर्वत्र भक्षक और अन्य सब भक्ष्य है। क्योंकि खाने का मुख्य प्रयोजन यही है कि उसका रूपान्तर बना हुआ रुधिरादि हमारी शरीरयात्रा का हेतु हो और रूपान्तर हुआ मल निकल जाया करे। तथा स्वभाव से अग्नि ही भोक्ता और अन्य सब वस्तु भोज्य बनाया गया है क्योंकि शरीर में पित्त के प्रबल होने पर ही भोजन और कामा-

भक्तिरूप भोगने की शक्तियां प्रकट होतीं दीखती हैं इसी लिये शरीरस्थ पित्ताग्नि के मन्द होने पर कुछ भी भोग नहीं कर सकता इस से अग्नि ही सर्वत्र भोक्ता है। सूर्याग्नि अपने किरणरूप हाथों से पृथिवीस्थ जलादि वस्तुओं को प्रतिदिन खाता वा भोगता है इसी से सब वस्तु शुष्क होते रहते हैं। इस कारण अग्नि के सर्वत्र भोक्ता होने से ही घी, मीठा, पुष्टिकारक तिलादि, सुगन्धि प्रधान कस्तूर्यादि और रोगनाशक सोम औषध्यादि इन पांच प्रकार के पाञ्चभौतिक होमने योग्य वस्तुओं को पञ्चीकरण की रीति सूर्य की किरणों के समान एक दूसरे से मिली हुई अपने हाथ की पांचों अङ्गुलियों से कर्छी लेकर बटलोई में पकाना वा इकट्ठे कर कूट कतर छोल बनाकर थाली में पांच अङ्गुलियों सहित हाथ से मिलाकर अग्नि में आहुति करनी चाहिये। इस दशा में पञ्चौदनादि का अर्थ यह होगा कि पांच प्रकार का पाञ्चभौतिक ओदन नाम अग्नि का भक्ष्य पदार्थ पांचों अंगुलियों को मिलाकर पकाना बटलोई से निकालना और पांचों ही अंगुलियों को एकत्र मिलाकर आहुति करनी चाहिये। और होम करते समय वेद के गूढाशय को शोचते ध्यान रखते हुए परमेश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये कि परमेश्वर ने पूर्वादि दिशाओं में अग्न्यादि देवताओं की जिस २ प्रकार जैसी २ स्थिति नियत की है वैसे ही मेरा भी हविष्य पदार्थ उस २ दिशा के उस २ देवता

को न्यूनाधिक भाव से यथायोग्य अपना २ भाग प्राप्त हो और उस होम द्वारा पूर्वादि दिशास्थ अग्नि आदि देवता से वैसी ही मेरे लिये सुख की वृद्धि हो इस अभिप्राय को लेकर स्वभाव सिद्ध यज्ञ अवश्य करना चाहिये [यहां पञ्चाङ्गुलि शब्द का यह प्रयोजन रहेगा कि पांचो अंगुलियों को मिलाकर पकाना बनाना वा आहुति करना आदि जैसा ठीक अच्छा हो सकता है वैसा थोड़ी अंगुलियों से चमसा पकड़ना आदि अच्छा नहीं हो सकता इस लिये पांचो अंगुलियां मिलाकर काम करना चाहिये] जो लोग स्वाभाविक भोक्ता भोग्यादि के विचारयुक्त वेद के सिद्धान्त का अनादर कर के अपने पेट के जाठराग्नि को ही भोक्ता मान कर भोजन करते और यज्ञ कर्म का त्याग करते हैं उन के प्राणों को ही कुपित हुए अग्नि खाना चाहते हैं। जैसे दुर्गन्धादि के अधिक फैलने से कुपित हुआ वायु प्रबल रोगादि रूप शस्त्रों से मनुष्यों का नाश करने के लिये प्रवृत्त हो जाता है वैसे दुर्गन्धादि के बढ़ने से अग्नि का भी कोप होता है चाहे इसी को वातपित्त कफ का कोप कहो तो भी ठीक है। अग्नि वायु आदि का कुपित होना प्राणियों के लिये बड़ा अनिष्ट है इस से अनिष्ट को छोड़ने और इष्ट को प्राप्त होने की इच्छा वाले मनुष्यों को वेदोक्तयज्ञ उक्त अभिप्राय से अवश्य करना चाहिये यह दो मन्त्रों का संक्षेप से आशय लिखा गया है॥

इस से आगे मांसभोजन भा० ३ के पृ० १०० में (शृत-मजं०) इत्यादि एक मन्त्र लिखा है जिस का अर्थ मांसोपदेशक ने यह किया है कि—

"उतारे, वा उत्पाटन किये, खाल से, सब अवयवों से भली भांति धारण किये हुए, विचित्र रूप वाले पकाये हुए बकरा को खिलावो वा खावो, वह तू कल्याण युक्त सर्वोत्कृष्ट सुख के ओर ऊठ, चार ज्ञान साधनों से सब दिशाओं में विराजमान हो" यह ज्यों का त्यों अक्षरार्थ पाठकों के अवलोकनार्थ हम ने लिख दिया है। संस्कृत पढ़े हुए सब जानते हैं कि "श्रा पाके" धातु से शृत शब्द बनता है जिस का अर्थ पकाया हुआ होना चाहिये। इसी शृत शब्द का अर्थ मांसोपदेशक जी ने "उतारे वा उत्पाटन किये" किया है। तथा खाल से और सब अवयवों से कौन किस को भली भांति धारण करे?। क्या यह अभिप्राय तो नहीं है कि मारे हुए बकरा की खाल उतार कर मारने वाला वा मांसाहारी ओढ़ लेवे और उस के गोड़े आदि सब उठा कर शिर पर धर लेवे?। खिलावो वा खावो यह किस का अर्थ है? क्या "प्रोर्णुहि" क्रिया का खाना अर्थ कहीं होता है? तथा मांसोपदेशक जी उठाते किस को हैं क्या मरे बकरे को वा मारने वाले को? क्या मरा बकरा फिर से उठ सकता है? यदि मारने वाले को उठाते हो तो क्या विना उठाये वह न उठेगा वहीं बैठा रहेगा? और किस

प्रयोजन से उठाते हो ? इत्यादि अनेक सन्देहों से इन का अर्थ विप्लुत हो रहा है और ध्यान देने से ठीक २ ऊटपटांग असंबद्ध प्रतीत हो जायगा । और मन्त्रस्थ पदों से कुछ भी संघटित नहीं होता ऐसे ही लोगों ने वेद को तुच्छठहरवादिया पर ध्यान रहे कि यह वेद का दोष नहीं है । किन्तु इन्हीं अल्पाशय लोगों का दोष है । अब हम उस मन्त्र का अर्थ पाठकों के अवलोकनार्थ लिखते हैं—

शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरंगैः सम्भृतं विश्वरूपम् । स उत्तिष्ठेतोऽभिनाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रतितिष्ठ दिक्षु ॥ १ ॥ अथर्ववेदे ४ । १४ । ९ ॥

अ०—हे मनुष्य ! त्वं शृतया पक्वया त्वचा संवरणेन शृतं पक्वमजं तमसः क्षेप्तारमग्निं प्रोर्णुह्याच्छादय किं भूतमजं सर्वैरङ्गैर्होमसाधनैः संभृतं विश्वरूपं सर्ववस्तुषु तत्तद्रूपेण व्याप्तम् । सोऽग्निरुत्तमं नाकं द्युलोकमभिलक्ष्येत उत्तिष्ठो-

त्तिष्ठेत्, चतुर्भिः पद्भिर्भागैश्च चतसृषु पूर्वादिदिक्षु यथाभागं प्रधानाप्रधानावयवैः प्रतितिष्ठ प्रतिष्ठितो भवतु ॥

भा० मनुष्येण पक्वः शुद्धो दीप्तोऽग्निर्होमाय कुण्डे वेद्यां वाऽऽधातव्यो नतु धूमभस्मादियुतः स शुद्धैः पक्वैरेव काष्ठैः स्वयं शुष्कैराच्छाद्यो नत्वार्द्रैश्छिन्नैरिति। काष्ठान्यपि स्वयं शुष्काणि वृक्षेभ्यो यज्ञायाहर्त्तव्यानि नत्वार्द्राणि तान्येव सर्वतो धृत्वाऽग्निराच्छाद्यस्तानि चाग्नेरावरणार्थात्त्वक्पदवाच्यानि भवन्ति। सम्यक् परिणतं सर्वं वस्तु पक्वमुच्यते। पक्वदशैव सर्वस्योत्तमा परिगण्यतएवमग्नेः काष्ठानामप्युत्तमा दशाऽत्र शृतपदवाच्या प्रत्येतव्या। त्वक्पदस्य च सामान्यो यौगिकार्थः संवरणमेवास्ति शृतं शृतया प्रोर्णुहीति पठता यादृशेन तादृशस्य सर्वत्रैव सम्बन्धः साधुरिति सूचितम्। सर्वैरेव चाङ्गैर्यज्ञसाधनैः कृतेन सर्वव्यापकस्य तत्तद्वस्तुनि तत्तद्रूपेणावस्थितस्याग्नेर्यज्ञेन संभरणं सम्यक्त्वेन सुखहेतु-

त्वसम्पादनं कार्यम् । देहादिस्थोऽग्निर्यज्ञेनैव सुखहेतुः सम्पद्यत इति यावत् । तथा च सति प्रधानजीवनहेतुनोत्तमकक्षास्थेन प्राणाद्यग्निना यजमानोऽपि सुखं जीवति ॥

भाषार्थः-हे मनुष्य ! तू (शृतया त्वचा शृतमजं प्रोर्णुहि) पके शुद्ध अग्नि का आच्छादन करने वाली समिधाओं से शुद्ध धूम रहित अन्धकार के नाशक अग्नि को आच्छादित कर। वह अग्नि कैसा हो कि (सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम्) यज्ञ के सब ठीक २ साधनों से सम्यक् धारण वा ठीक किया गया हो [वास्तव में सब अङ्गों के ठीक होने पर ही प्रत्येक वस्तु वा कार्य अपनी ठीक उत्तम दशा में पुष्ट कहाता है अर्थात् संभरण नाम पोषण का यही अर्थ है कि वह साङ्गोपाङ्ग हो] और वह अग्नि प्रत्येक पदार्थ में उसी २ के रूप से व्याप्त है (स उत्तमं नाकमभ्युत्तिष्ठ) वह ऐसा अग्नि अन्धकार वा अज्ञान के दुःख से रहित उत्तम द्युलोक की ओर को उठे वा उठता है अर्थात् उस की ज्वाला ऊपर द्युलोक की ओर को सीधी उठती है और (चतुर्भिः पद्भिर्दिक्षु प्रतितिष्ठ) चार भागों में भिन्न २ प्रकार से विभक्त हुआ वह अग्नि पूर्वादि चार दिशाओं में [प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि] इत्यादि पूर्व कथनानुसार स्थित होता वा रहता है । अर्थात् यज्ञ द्वारा प्रबलता को प्राप्त हुआ साक्षात् अग्नि अपने सं-

बन्धी सर्वदिग्व्याप्त अग्नि को ठीक मनुष्यादि के अनुकूल बनाता है ॥

भा०-मनुष्य को चाहिये कि कुण्ड वा वेदि में होम के लिये शुद्ध प्रदीप्त अग्नि का स्थापन करे किन्तु राख वा धूमादि से युक्त अग्नि का आधान न करे। और उस अग्नि के ऊपर नीचे इधर उधर पके शुद्ध स्वयं सूखे वृक्षों से तोड़े हुए काष्ठ लगाकर अग्नि का आच्छादन करे किन्तु गीली काटी हुई लकड़ियों से नहीं । स्वयं सूखी ही समिधा ठीक पकी होती हैं । इस लिये समिधा भी वृक्षों से स्वयं सूखी ही तोड़ तुड़ाके लानी चाहिये किन्तु गीली तोड़कर सुखाई न होवें समिधा अग्नि को ढांपने आच्छादित करने वाली होने से अग्नि की त्वच् कहाती क्योंकि आच्छादन करने वाले सामान्य वस्तु का वेद में त्वच् नाम है । और ठीक अच्छी दशा में आजाना ही उस २ वस्तु का सम्यक् हो जाना माना जाता है इस से सब की परिपक्व दशा ही उत्तम गिनी जाती है वैसे अग्नि और समिधाओं की उत्तम दशा ही यहां शृत पद का अर्थ लेना जानो । "पके को पकी से आच्छादित करो" इस कहने से ईश्वर ने जैसे के साथ तैसे का ही सम्बन्ध करना उत्तम है यह सूचित किया है । उस २ वस्तु में उसी २ के रूप से व्याप्त अग्नि को यज्ञ के सब अच्छे साधनाङ्गों से किये यज्ञ से अच्छे प्रकार सुख का हेतु बनाना चाहिये अर्थात् शरीर घर आदि

में रहने वाला अग्नि यज्ञ द्वारा ही मनुष्य के सुख का हेतु होता है ऐसा होने पर मुख्य जीवन के हेतु उत्तम कक्षास्थ प्राणनामक अग्नि को धारण करता हुआ यजमान भी सुख पूर्वक जीवन बिताता है ॥

इस से आगे मांस०प्र० पृ० ११३-११८ तक में (अनुछ्य) इत्यादि एक मन्त्र लिख कर अक्षरार्थ किया है कि "हे मार कर टुकड़े २ करने वाले तीक्ष्णशस्त्र से इस खाल को अङ्ग २ से मारने के पीछे काट कर उतार और मांस को अपरिमित अन्न अर्थात् खाना मानो, मत किसी से द्रोह करो कि औरों को न दूं आप ही खाऊं इस प्रकार द्रोह न करो, इस बकरा का अङ्ग २ पाक क्रिया से सिद्ध करो, इस यजमान को सर्वोत्तम सुख के ऊपर विशेष करके आश्रित कर"। मुझे अनुमान है कि मांसोपदेशक जी पुरोहित को यह सब आज्ञा देते हैं हम इस मन्त्र का अर्थ संक्षेप मे लिखते हैं-

अनुछ्य श्यामेन त्वचमेतां विशस्तर्यथापर्वसिना माभिमंस्थाः। माभिद्रुहः परुशः कल्पयैनं तृतीये नाके अधिविश्रयैनम् ॥ अथर्व ९।५।४॥

अ०-हे अजाग्ने ! तमोविशस्तस्त्वमेतां त्वचमन्धकारावरणं श्यामेन प्रासेनासिनान्धकारक्षेपकेण प्रकाशेन यथापरु सर्वं प्रियं तमोऽनुरुध्य माऽभिमंस्था माऽभिद्रुहः । एनमजप्रकाशं परुशः कल्पय स्वप्रियंप्रियमेव कुरु यज्ञैश्चैनमजमग्निं तृतीये नाकेऽधिविश्रय स्थापय प्रापय वा ॥

भा०-अग्नितत्त्वप्रधानः सात्त्विको ज्ञान्यपि हार्दतमोनिवारकत्वादजपदवाच्यः । तेनापि हार्दतमस आवरणं छेत्तव्यमभिमानद्रोहौ च त्याज्यौ सत्त्वप्रकाशेन ज्ञानेनैव प्रेम कार्यं यज्ञानुष्ठानेन चाग्नितेजः सूर्यलोकं नेयमिति । भौतिकाग्निपक्षे च पुरुषव्यत्ययः । सोपि मनुष्यादीनां प्रियमपि सर्वमावरकं निद्रादितमो दूरं गामिना प्रातःप्रकाशेन छिनत्त्येव । जडत्वाच्चाभिमानद्रोहौ तमसा न करोति स्वसमवेतं प्रियं प्रकाशं च कल्पयति समर्थयति । यज्ञादिषु प्राबल्येन प्रज्वलितश्चाग्निः स्वः सूर्यं प्रकाशं च कल्पयति समर्थयति । स्वतेजो गमयत्येव । छोछेदनइत्यस्य

छ्यइति क्रियापदम्। अमुक्षेपणेऽस्मादेवासिपदं व्युत्पद्यते। पृप्रीतावित्यस्माच्च परुपदं सिध्यति। यौगिकश्च सामान्यो वेदस्यार्थः कार्यइति सर्वमीमांसकादिविपश्चिदभिमतमेव ॥

भावार्थः—हे (अजाग्ने !) अपने वा अन्यों के हृदयान्धकार के (विशस्तः) नाशक तुम (एतां त्वचम्) इस अज्ञानान्धकार रूप आवरण को (श्यामेनासिना) प्राप्त हुए अन्धकारनाशक प्रकाश वा ज्ञान से (यथापर्वंलुछ) सुख को प्रतीत कराने वाले भी निद्रालस्यादि तमोगुण रूप सब अन्धकार को ज्ञानोदय होने पर छेदन कर (माभिमस्था माभिद्रुहः) किसी से अभिमान और ईर्ष्या द्वेषादि मत कर (एनं परुशः कल्पय) और इस अजसम्बन्धी सात्विक प्रकाश को सर्वथा अपना प्रिय कर अर्थात् उस की ओर तत्पर रह और यज्ञों के द्वारा (एनं तृतीये नाकेऽधिविश्रय) इस तैजस प्रकाश को दुःख रहित उत्तम स्वर्गलोक में स्थापित वा प्राप्त कर ॥

भा०—अग्नि तत्त्वप्रधान सत्त्वगुणी ज्ञानी पुरुष भी हृदय के अन्धकार को दूर करने वाला होने से अज कहाता है उस को भी अन्तःकरण के आच्छादक तमोगुण का छेदन करना ही चाहिये आवरण करने वाला होने से अन्धकार

वा तमोगुण ही स्वच् पद का वाच्य है तथा ज्ञानी को अ-
भिमान और द्रोह भी त्याज्य हैं और उस को सात्त्विक
ज्ञान प्रकाश से ही प्रीति भी करनी तथा यज्ञ का अनुष्ठान
करके अग्नि का तेज सूर्य लोक को पहुंचाना चाहिये। और
इस मन्त्र का भौतिकाग्नि पक्ष में पुरुष व्यत्यय मान कर
यह अर्थ होगा कि वह अग्नि मनुष्यादि के ज्ञान का आ-
वरण करने वाले सब निद्रादि रूप प्रिय अन्धकार को प्रा-
तःकाल होने वाले सूर्य प्रकाश से छेदन करता ही है और
आग्नेय प्रकाश जड़ होने से तमोगुण के साथ अभिमान
तथा द्रोह नहीं करता और वह अग्नि अपने नित्यसम्बन्धी
प्रकाश को प्रिय वस्तु के तुल्य सदा साथ रखता है प्रबल
समर्थ करता है तथा यज्ञादि में प्रबलता से प्रज्वलित हुआ
अग्नि अपने तेज को सुगन्धित धूम वा भाफ के साथ सूर्य
लोक में पहुंचाता है। इस मन्त्र में छोछेदने धातु का "छ्य"
यह क्रियापद असुक्षेपणे धातु से सिद्ध हुआ "असि" शब्द
और पृप्रीती धातु से बना "परु" शब्द है और वेद का
सामान्य यौगिकार्थ करना चाहिये यह सब मीमांसाकारादि
विद्वानों के अनुकूल ही है॥

मांसोपदेशक जी ने मन्त्र के [यथापर्वसिना माभिमंस्थाः]
इस भाग का पदच्छेद ऐसा किया है कि (यथापर्व। सिना।
असा। अभिमंस्थाः) सो वास्तव में अशुद्ध है पदपाठ ठीक
यह है कि (यथापरु। असिना। मा। अभिमंस्थाः) बुद्धि
से देखने वालों

को यह ठीक ही ज्ञात हो जायगा । पाठको ! सोचिये तो जिन लोगों को वेद का पदच्छेद तक समझने की योग्यता नहीं वे कैसा अर्थ कर सकते हैं ? वास्तव में ऐसे ही लोगों ने वैदिक धर्म की अधोगति की यह सत्य ही है ॥

इस से आगे भाग ३ पृ० १५० में एक मन्त्र (अजोह्यग्नेरजनिष्ट शोकात् ०) इत्यादि लिखा है इस में यह सन्देह हो सकता है कि जब वेद के सिद्धान्तानुसार अज नाम अग्नि का है तो अग्नि के शोक से कौन अज उत्पन्न हुआ ? । इस का उत्तर यह है कि यहां कार्याग्नि का नाम अज और कारण का नाम अग्नि माना है । इस बात की सिद्धि वेद के प्रमाण से ही हो सकती है कि अग्नि से अग्नि उत्पन्न हुआ अर्थात् कारणरूप से कार्यरूप अग्नि की उत्पत्ति वेद में स्पष्ट मिल सकती है यथा (ऋ० १ । १२ । ६ अग्निनाग्निः समिध्यते०) यहां कारणरूप अग्नि से प्रत्यक्ष कार्याग्नि का प्रज्वलित होना स्पष्ट दिखाया है । अरणि नाम दियासलाई पत्थर आदि में कारणरूप अग्नि है तभी तो संघर्ष होने से प्रकट हो जाता है । अब इस के आगे मांसभोजन वि० भा० ३ के पृ० १७८ में यह मन्त्र लिखा है कि (नास्यास्थीनि०) इत्यादि इस मन्त्र का अर्थ हम और संक्षेप से लिख देते हैं ॥

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत् । सर्वमेनं समादायेदमिदं प्रवेशयेत् ॥ अथर्व० ९ । ५ । २३ ॥

अ०-अस्याजस्याग्नेरस्थीनि तमःक्षेपकाण्य-ङ्गान्यग्न्याधानकाले न भिन्द्यादङ्गारं न त्रोट-येन्न चास्य मज्ज्ञः शुद्धानि दाहकशक्तिरूपाणि शीतातुरो निर्धयेन्मुखेन न पिबेन्नापि मुखेन धमेदपितु सर्वमेनमङ्गारादिरूपं समादायेदमि-दमग्निस्वरूपं प्रवेशयामीति तन्मना भूत्वा कु-ण्डवेद्यादौ प्रवेशयेत् ॥

भा०—मानसोऽग्निः शरीरेषु जीव इत्यभि-धीयत इतिमहाभारते कथयता दर्शितमाग्नेय एव प्राकृतोंशः शरीरे जीवनरूपोऽस्ति । तस्य च बाह्योऽग्निः सहायोऽतएव च शीताधिक्ये मरणं सन्निहितं दृश्यते तस्माद् बाह्याग्निं नुदता भि-दता नाशयता जनेन प्राणाग्निरपि तोद्यते भे-द्यत इति मत्वैव "नाग्निं मुखेनोपधमेत्० न प्राणाबाधमाचरेत्" इत्यादिचतुर्थेऽध्याये मनु-नोक्तं संगच्छते । इदमिदमिति कथयता तत्परता प्रदर्शिता तस्माद्बाह्यमप्यग्निं स्वस्य जीवनोप-करणं मत्वा सम्यगुपचरेदित्याशयः ॥

भाषार्थः-(अस्यास्थीनि न भिन्द्यात्) इस अज नामक अग्नि के अस्थि नाम अन्धकार को दूर करने वाले चिनगारे

भिन्न २ न करे क्योंकि भिन्न २ होने से शीघ्र बुत जाना स-
म्भव है अर्थात् अग्न्याधान करते समय अङ्गाररूप अग्नि
को न तोड़ डाले और (न मज्ञो निर्धयेत्) न शीत लगने
से घबराया पुरुष दाहकशक्तिरूप अग्नि में से उठती हुई
शुद्ध उष्णताओं को मुख से न पीवे तथा न मुख से बुते हुए
अग्नि को फूंके क्योंकि बलवान् सजातीय अपने निर्बल सजा
तीय को सदा ही दबाता वा नष्ट करता है इसी कारण सूर्य
के प्रबल प्रताप से दिन में उल्कापात वा नक्षत्रादि दब
जाने से नहीं दीख पड़ते तद्वत् बाह्याग्नि की उष्णता साक्षात्
पी हुई प्राणाग्नि को धक्का देकर निकाल दे तो असम्भव
नहीं है। इस लिये (सर्वमेनं समादायेदमिदं प्रवेशयेत्)
सब अङ्गार रूप अग्नि को ग्रहण कर इस ऐसे अग्नि को कुण्ड
वा वेदि में प्रविष्ट करे अर्थात् मैं यह काम करता हूं इस
प्रकार उसी में मन लगा कर काम करे ॥

भा०—महाभारत में लिखा है कि शरीरों में मन सम्बन्धी
अग्नि तत्त्व ही मनुष्यादि के जीवन का मूल है इस कथन से
यह स्पष्ट दिखाया है कि प्रकृति का आग्नेयांश ही प्राणियों में
जीवन है। आग्नेयांश शरीर से निकलते ही ठंढा पड़ जाता
है। इस भीतरी जीवन हेतु अग्नितत्त्व का बाह्य अग्नि स-
हायक है। इसी कारण बाह्य अग्नि की उचित सहायता
न मिलने पर शरदी के अधिक बढ़ते ही मरने का समय
समीप आगया दीखता है। इस से बाहरी अग्नि का छेदन
भेदन नाश वा अनादर करते हुए मनुष्य के प्राणाग्नि को

भी वही वैसा ही कुछ न कुछ धक्का लगता है। ऐसा मान कर ही (नाग्निं मुखेनोप०) इत्यादि चतुर्थाध्याय में कहा मनु जी का आशय ठीक संगत होजाता है (इदमिदम्) कहने से उसी काम में मनुष्य की तत्परता दिखायी है। इसलिये बाह्य अग्नि को अपने जीवन का उपकारी मान कर यथोचित उपकार लेता रहे। हमें आशा है कि हमारे पाठक लोग हमारे इस सब लेख से वेद के गौरव को अवश्य समझ जायंगे। और उपसंहार में सारांश यह है कि- १ अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुः। वेद के इस साक्षात् निर्भ्रान्त प्रमाण, २ अजस्तमांस्यपहन्ति दूर०-इस में क्षेपणार्थ अज धातु का ठीक अर्थ घटा हुआ दीखने ३-अग्निः पशुरासीत्-इत्यादि यजुर्वेद के स्पष्ट प्रमाण से, ४-"अजाः पूषवाहाः" इस निघण्टु की साक्षिता में सूर्य के किरणों का अज नाम होने, ५—निघण्टु के भाष्यकार देवराजयज्वा का यही परामर्श मिलने, ६—तस्मोरध्यमभवत्० इत्यादि मन्त्रों में ब्रह्माण्डभर को अज का अवयव कहने, ७ —अथर्व० ९। ५। २१ में अज पञ्चौदन को व्याप्त विभु अपरिमित स्पष्ट कहने, और ८ पूर्वमीमांसा के (परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्) इस कथन के अनुसार वेद के अज आदि शब्दों का ठीक सामान्यार्थ घट जाने से अर्थात् इन अत्यन्त पुष्ट आठ प्रमाणों से अज शब्द का अग्नि अर्थ निश्चित हो जाने पर वेद के मन्त्रों का ठीक अर्थ हमारे पाठकों के मन में

अवश्य बैठ जायगा । ऐसी हम को पूर्ण आशा है । अन, त्वच्, छेदन, अभि, अस्थि, मज्जा आदि शब्दों को देख कर बकरा मारने चढ़ाने काटने का विकल्प जो प्रत्येक मनुष्य के मन में सन्देह डालता है उस का कारण यह है कि लौकिक रीत्यनुसार समझे शब्दार्थों से हम वेदार्थ को लगाना चाहते हैं उस में शोचना यह है कि जब वेद सर्गारम्भ से है तो वेद से लौकिक विचार निकले हम को मानने चाहिये । जब लौकिक विचार से वेद बना ही नहीं तो हमारा लोक में समझे विचारानुसार वेदार्थ समझने का उद्योग करना क्या सर्वथा उलटा नहीं है ? क्या पिता के जन्म समय का समाचार साक्षात् देखे हुए के समान पुत्र कभी जान सकता और कह सकता है ? कदापि नहीं तो लौकिक बुद्धि से वेदार्थ समझने का उद्योग सर्वथा व्यर्थ है यह ध्यान देकर शोचने वालों को अवश्य ही हमारे लेख से भासित हो जायगा ॥

हम पाठकों को ध्यान दिलाते हैं कि (अथर्व० ९ । ५ । ४) मन्त्र को मांसोपदेशक ने भाग ३ पृ० ११३ में लिख कर स्पष्ट लिखा है कि बकरे को मारो उस की खाल उतारो उस के शरीर के टुकड़े २ करो इत्यादि । फिर पृष्ठ १७९ में लिखे मन्त्र से यह कैसे बनेगा कि बकरे को ज्यों का त्यों उठाकर वेदि में झोंकदो हड्डी मज्जादि कुछ मत निकालो । और इस दशा में मांसाचार्य जी कहां से मांस खावें खिलावेंगे ?

यदि टुकड़े २ करना सत्य हो तो बकरे को समूचा डाल देना खण्डित होगा और यह सत्य है तो टुकड़े करना मिथ्या होगा। वास्तव में परस्पर विरुद्ध होने ऊटपटांग असम्बद्ध तथा प्रमाण शून्य होने से इन का किया सभी मन्त्रार्थ जब अज्ञानान्धकार से ठसाठस भरा है तो अब और समालोचना करना व्यर्थ है। हमारे पाठकों को ध्यान रहे कि यद्यपि हम ने मांसभोजन विचार में लिखे सब मन्त्रों का उत्तर वा अर्थ नहीं लिखा तथापि जिन मन्त्रों में कुछ शङ्का जीवहिंसा करने वा खाने कीसी हो सकती है ऐसे प्रायः मन्त्र खोज २ कर हम ने समाधान लिख दिया है। और अज तथा पञ्चौदन सम्बन्धी मन्त्रों का जो अर्थ हम ने लिख दिया है वैसी ही व्यवस्था से अजपञ्चौदन प्रकरण के सब मन्त्रों का अर्थ हो सकेगा। अर्थात् जितनी जैसी व्यवस्था अथर्व वेद के मन्त्रों पर इस विषय में होनी आवश्यक थी वह सब ठीक होगयी। जब तक मांसाशी उपदेशकों में से वा अन्य कोई भी मनुष्य अज आदि शब्दों का हमारे समान वा इस से भी अधिक पुष्ट प्रमाणों से बकरा आदि अर्थ लेना सिद्ध न करे तब तक हम को इस विषय पर और कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं होगी। इसलिये सब विचारशील गुणग्राहियों से प्रार्थना है कि गुणग्रहण करें दोषों को त्यागें भूलचूक क्षमा करें॥ इति॥

पुस्तकों की सूची ॥

यमयमीसूक्तम् =) प्रबन्धार्कोदय ।-) नया छपा है आर्य धर्म की शिक्षा के साथ मिडिलक्लास की परीक्षा देने वाले छात्रों को उत्तम प्रबन्ध लिखना सिखाता है ॥ आयुर्वेदशब्दार्णव (कोष) ॥=) मनुस्मृतिभाष्य की भूमिका १॥) छाकव्यय =)॥ पुस्तक रायल पुष्ट कागज़ में ३६४ पेज का छपा है ॥ ईश उपनि० भाषा वा संस्कृत भाष्य ≡) केन ।) कठ ॥।) प्रश्न ॥=) मुण्डक ॥।) माण्डूक्य ≡) तैत्तिरीय ॥।) इन ७ उपनिषदों पर सरल संस्कृत तथा देवनागरी भाषा में टीका लिखी गयी है कि जो कोई एक बार भी इस को नमूना (उदाहरण) मात्र देखता है उस का चित्त अवश्य गढ़ जाता है । सातों इकट्ठे लेने वालों को ३) ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक माण्डूक्य ये छः उपनिषद् छोटे गुटकाकार में बहुत शुद्ध मूल भी छपे हैं मूल्य =) तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, और मैत्र्युपनिषद् ये चार उपनिषद् द्वितीय गुटका में ≡) गणरत्नमहोदधिः १॥) आर्य्यसिद्धान्त ७ भाग ८४ अङ्क एक साथ लेने पर ४।=) और फुटकर लेने पर प्रति भाग ॥।) ऐतिहासिकनिरीक्षण =) ऋग्वादिभाष्यभूमिकेन्दूपरागे प्रथमोंशः -)॥ तथा द्वितीयोंशः -)॥। विवाहव्यवस्था =) तीर्थ विषय (गङ्गादि तीर्थ क्या हैं) -)॥ सद्विचारनिर्णय -) ब्राह्ममतपरीक्षा =) अष्टाध्यायी मूल ≡) न्यायदर्शन मूल सूत्रपाठ ≡) देवनागरीवर्णमाला)। यज्ञोपवीतशङ्कासमाधि -) संस्कृत का प्रथम पु० पांचवीं वार छपा)॥। द्वितीय तीसरी वार छपा -)। तृतीय फिर से छपा =)॥। भर्तृहरिनीतिशतक भाषा टीका ≡) चाणक्यनीति मूल)॥ बालचन्द्रिका (बा-

लकों के लिये व्याकरण) -) गणितारम्भ (बालकों के लिये गणित) -)॥ अङ्कगणितार्य्येना ≡)॥ विदुरनीति मूल =) जी-वसान्तविवेक -) पाखण्डमतकुठार (कबीरमतख०) =) जी-वनयात्रा (चारआश्रम) ≡) नीतिसार -)॥ हितसिक्षा (ना-मानुकूलगुण) -)॥ गीताभाष्य २।) हिन्दी का प्रथम पुस्तक -) द्वितीयपुस्तक पं० रमादत्त कृत ≡) शास्त्रार्थ खुर्जा -) शा-स्त्रार्थ किराणा =) भजन पुस्तकें—भजनामृतसरोवर =) स-त्यसङ्गीत)। सदुपदेश)। भजनेन्दु (बारहमासे, भजनादि) -) वनिताविनोद (स्त्रियों के गीत) =) सङ्गीतरत्नाकर =) बु-द्धिमती (मुं० रोशनलाल बैरिस्टर एटला रचित) ।) सभा-प्रसन्न ।) सीता चरित्र नाविलप्रथम भाग ॥।) बाल्यविवाह-नाटक -)॥ शिल्पसङ्ग्रह ।-) आर्यतत्वदर्पण =) कर्मवर्णन)॥ स्वामीजी का स्वमन्तव्यामन्तव्य)॥ नियमोपनियम आर्यस-माज के)। आरती आधा पैसा आर्यसमाज के नियम ≡)। सैकड़ा २) हज़ार । सत्यार्थप्रकाश २) वेदभाष्यभूमिका २॥) संस्कारविधि १।) पञ्चमहायज्ञ ≡)॥ आर्याभिविनय ।) नि-घण्टु ।=) धातुपाठ ।=) वर्णोच्चारणशिक्षा -) गणपाठ ।-) निरुक्त १) मांसभोजन विचार प्रथम भाग का उत्तर -)॥ द्वितीय भा० =)॥ तृतीय का भी ≡)। है । भर्त्तृहरि वैराग्य-शतक भाष्य मूल्य ।) कन्यासुधार)॥ वेश्या लीला)॥ सञ्जी-वन बूटी आल्हा)॥ प्रश्नोत्तररत्नमाला -) आर्य चर्पटप-ञ्जरिका)। चाणक्यभाष्य -)। जगद्वशीकरण =) पुत्रकामेष्टि-पद्धति मू० =) इत्यादि आर्यधर्म सम्बन्धी अन्य पुस्तक भी हैं बड़ा सूचीमंगाकर देखिये ॥

पता—भीमसेन शर्मा सरस्वती प्रेस इटावा